अध्याय-3

स्वनविज्ञान

(i) स्वनविज्ञान : स्वरूप एवं शाखाएँ

स्वनविज्ञान में स्वनों के भौतिक शरीर की परीक्षा की जाती है। यहाँ अर्थ से हमारा कोई भी तात्पर्य नहीं होता। यदि हम किसी व्यक्ति को कोई ऐसी भाषा बोलते सुनें, जिससे हमारा तनिक भी परिचय नहीं है तो हम भाषा की अन्य व्यवस्थाओं की सामग्री खोज पाएँ चाहें न खोज पाएँ, स्वनविज्ञान की सामग्री हमें अवश्य प्राप्त हो जायेगी।

अधिकांश स्वन फेफड़े से बाहर आने वाली साँस से बनते हैं। मार्ग में आने वाले अंग इस साँस को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करने के लिए विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ ग्रहण करते हैं और विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। फलतः बाहर आने वाली इस साँस को अनेक प्रकार के मार्गों से अनेक प्रकार की बाधाओं का सामना करते हुए आना पड़ता है। इस प्रकार एक ही सांस अनेक प्रकार के स्वनों का रूप ग्रहण कर लेती है। वक्ता अपने वागंगो के द्वारा जो क्रियाएँ इस सांस के ऊपर करता है, उनका विवेचन करते हुए हम स्वनों का विश्लेषण और वर्गीकरण कर सकते है। उच्चारण के पक्ष से सम्बन्धित होने के कारण यह अध्ययन स्वनविज्ञान की जिस शाखा का निर्माण करता है, उसे **औच्चारिक स्वनविज्ञान** कहते हैं।

मुख से निकलकर यह स्वन-वायुमंडल में स्वन-तरंगों का रूप ले लेता है। ये स्वन तरंगें वायुमण्डल में संचरण करने लगती है और श्रोता की ओर बढ़ती है। इन संचरण कर रही स्वन-तरंगों का भी यंत्रों की सहायता से अध्ययन किया जा सकता है। यह अध्ययन **सांचारिक स्वनविज्ञान** नामक शाखा का विषय है।

वायुमंडल में संचरण कर रही ये तरंगें अन्त में श्रोता के कर्णपुटों में प्रवेश करती हैं। कान अपनी विशेष श्रवण-प्रक्रिया द्वारा इन तरंगों को ग्रहण कर लेते हैं। इस श्रवण-पक्ष के आधार पर स्वनों का अध्ययन **श्रौतिक स्वनविज्ञान** शाखा के अन्तर्गत किया जाता है।

औच्चारिक स्वनविज्ञान, सांचारिक स्वनविज्ञान और श्रौतिक स्वनविज्ञान में से औच्चारिक स्वनविज्ञान का अध्ययन अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। यहाँ औच्चारिक स्वनविज्ञन का परिचय कुछ विस्तार से दिया जा रहा है -

(ii) वागवयव

स्वनों के निर्माण में मनुष्य-शरीर के कुछ अंग क्रियाशील होते हैं और स्वनों की विभिन्नता के लिए ये अंग ही उत्तरदायी होते हैं। स्वनों के उत्पादन में सहयोग देने वाले इन अंगों का सामूहिक नाम वागवयव है।

हम उल्लेख कर चुके है कि अधिकांश स्वनों का निर्माण फेफड़ों से बाहर आने वाली वायु के द्वारा होता है। यह वायु एक विशेष लय में होता है और यही लय हिन्दी,



अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में 'अक्षर' का निर्धारण करती है। 'अक्षर' शब्द से हमारा तात्पर्य किसी वर्णमाला के चिह्नों से नहीं है, बल्कि एक स्वनिक इकाई से है, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी।

वागवयव के अन्तर्गत निम्न अंग आते हैं -

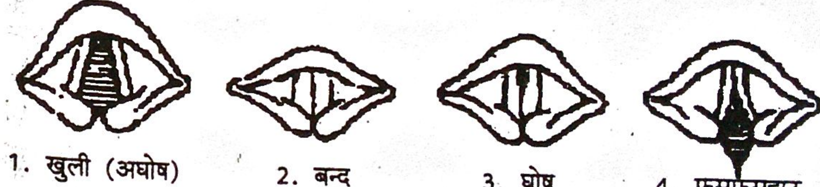
1. ओष्ठ 2. दन्त 3. वर्त्स
4. मूर्धा (कठोर तालु)
5. उत्कंठ (कोमल तालु)
6. अलिजिह्व 7. जिह्वानोक
8. जिह्वाफलक
9. जिह्वाग्र 10. जिह्वामध्य 11. जिह्वापश्च 12. जिह्वामूल
13. नासाद्वार 14. ग्रसनी 15. अभिकाकल 16. स्वरयंत्र
17. स्वरतंत्रियाँ

1. फेफड़े से चली हुई वायु स्वरयंत्र में पहुँचती है। **स्वरयंत्र** हमारे वागवयव का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। कुछ स्वनों के निर्माण में समग्र स्वरयंत्र को आवश्यकतानुसार ऊपर-नीचे किया जाता है।

2. स्वरयंत्र में रंगमंच के पर्दों की भाँति दो तंत्रियाँ होती है, जिन्हें **स्वरतंत्रियाँ** कहा जाता है। ये तंत्रियाँ स्वरयंत्र में आगे से पीछे फैली होती है। इनके बीच का अवकाश **काकल** कहा जाता है। ये तंत्रियाँ विभिन्न प्रकार से खुलती और बन्द होती है तथा इस प्रकार वायु को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करके स्वनों में भेद उत्पन्न करती हैं।

(iii) स्वनन (Phonation)

स्वरतंत्रियाँ निम्न स्थितियों में हो सकती हैं -



1. खुली (अघोष) 2. बन्द 3. घोष 4. फुसफुसहाट

पहली स्थिति में स्वरतंत्रियाँ दूर-दूर रहती हैं और उनके बीच से निकलती हुई वायु का कोई प्रभाव उनकी स्थिति पर नहीं पड़ता। सारी वायु लगभग निःशब्द-सी गुजर जाती है। इस प्रकार के स्वन **अघोष** कहे जाते है। दूसरी स्थिति में दोनों स्वरतंत्रियाँ परस्पर सट जाती है और दृढ़तापूर्वक पल-भर जुड़ी रहती है। फलस्वरूप वायु का प्रभाव रुक जाता है। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले स्वन का नाम **काकल्य स्पर्श** है। (हिन्दी-क्षेत्र की पाठशालाओं में जब बच्चे वर्णमाला याद करते हैं तो 'अ आ इ ई उ ऊ' आदि बोलते हैं, तब अ, इ, उ, के बाद यह स्वन सुनाई देती है।) तीसरी स्थिति में स्वरतंत्रियाँ परस्पर

ध्वनि के पक्ष (उत्पादन, संचरण/संवहन, ग्रहण)

४.४. हम कैसे बोलते हैं?

ध्वनि-उत्पादन—ध्वनि-विज्ञान को समझने के लिए आवश्यक है कि ध्वनि की उत्पत्ति की प्रक्रिया को भी समझ लिया जाय। मानवीय ध्वनि का आधार वायु है। यह वायु हमें फेफड़ों से प्राप्त होती है। फेफड़े ध्वनि-उत्पादन में धौंकनी का काम करते हैं। हारमोनियम आदि वाद्य-यन्त्रों में धौंकनी के द्वारा वायु को बाहर से अन्दर लेकर उसके उपयोग के द्वारा सरगम की ध्वनि निकाली जाती है। मानव-शरीर में भी दो प्रक्रियाएँ प्रतिक्षण काम करती हैं—१. साँस लेना, २. साँस निकालना। प्रथम को **श्वास या प्रश्वास** कहते हैं और दूसरे को **निःश्वास**। श्वास या प्रश्वास अन्दर खींची गई वायु है। यह मुख और नाक दोनों के द्वारा खींची जाती है। यह अन्दर खींची गई वायु ऑक्सीजन (Oxygen) या प्राण वायु है। यह रक्त को शुद्ध करती है। अन्दर से बाहर फेंकी गई वायु निःश्वास है।[1] इसके द्वारा शरीर से कार्बन डाइ-आक्साइड (Carbon-dioxide) या दूषित अपान वायु बाहर निकलती है। प्रश्वास मानव-जीवन के लिए अनिवार्य है। यही शक्ति का स्रोत है। निःश्वास वायु अन्दर की गन्दगी को बाहर निकालती है।

उच्चारण की दृष्टि से श्वास वायु का उपयोग अत्यन्त कम होता है। कुछ भाषाओं में आश्चर्य आदि की बोधक ध्वनियों और अमेरिका, अफ्रीका आदि की क्लिक आदि ध्वनियों के उच्चारण में श्वास वायु का उपयोग होता है। सामान्यतया निःश्वास वायु (बाहर फेंकी गई वायु) ही भाषा एवं ध्वनि का प्राण है। प्रकृति की यह विचित्रता है कि वह एक अत्यन्त अनावश्यक और अनुपयोगी तत्त्व 'निश्वास' से ध्वनि एवं भाषा जैसे बहुमूल्य तत्त्व को जन्म देती है। इस प्रकार ध्वनि या भाषा निःश्वास का उपजात (By-product, बाई-प्रोडक्ट) तत्त्व है। मानव की समस्त बौद्धिक उपलब्धियाँ इसी उपजात के परिणाम हैं।

शरीर में फेफड़ों की सफाई के बाद यह वायु श्वास-नली के मार्ग से निःश्वास रूप में बाहर आती है। स्वर-यन्त्र तक पहुँचने से पूर्व इसमें कोई विकार नहीं होता है। ज्योंही यह वायु स्वरतन्त्रियों के मार्ग से अग्रसर होती है, इसके अनेक स्वरूप हो जाते हैं। श्वास-नाद, घोष-अघोष, तार-मन्द्र, अल्पप्राण-महाप्राण आदि भेद स्वरतन्त्री की विशेष स्थितियों के कारण होते हैं। स्वरतन्त्री से आगे बढ़ने पर यह वायु आवश्यकतानुसार तीन भागों में विभक्त हो जाती है—१. केवल मुख-मार्ग से, २. केवल नासिका-मार्ग से, ३. मुख और नासिका दोनों मार्गों से समन्वित रूप में। जीभ, कंठ, तालु, दन्त, ओष्ठ आदि की सहायता से ध्वनि को इच्छानुसार रूप दिया जाता है। इस प्रक्रिया में कौवा (अलिजिह्वा) भी सहायक होता है। यह नासिका द्वार को रोक देता है तो नासिक्य-भिन्न सभी ध्वनियाँ मुख से उच्चरित होती हैं। नासिक्य ध्वनियों के उच्चारण में कौवा थोड़ा नीचे झुक जाता है, अतः वायु नाक से निकलती है। ऐसी ध्वनियों को नासिक्य या अनुनासिक कहते हैं।

मुख से उच्चरित होते ही ध्वनि बाहर की वायु में एक विशेष प्रकार के कम्पन से

१. कुछ विद्वानों ने निःश्वास के अर्थ में प्रश्वास शब्द का प्रयोग किया है। वे श्वास-प्रश्वास कहते हैं।

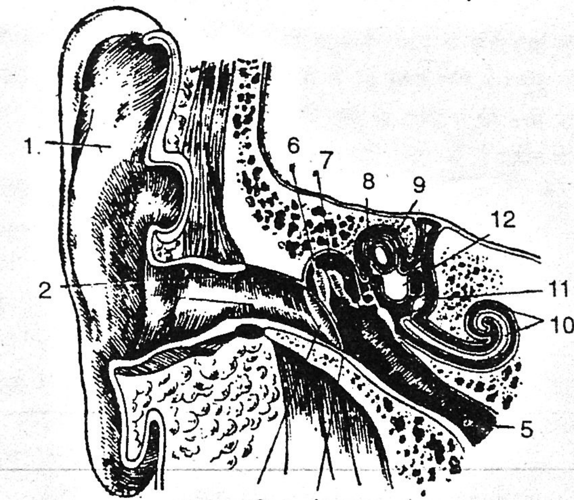
तरंगें उत्पन्न करती हैं। ये तरंगें श्रोता के कान तक पहुँचती हैं और उसकी श्रवणेन्द्रिय में कम्पन पैदा करती हैं। इन ध्वनि-तरंगों की गति सामान्यतया ११००-१२०० फीट प्रति सेकेण्ड होती है। ये ध्वनि-तरंगें ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हैं, इनकी तीव्रता कम होती जाती है। तरंगों की गति न्यून होने के कारण दूर स्थित व्यक्ति को ध्वनि धीमी सुनाई पड़ती है या नहीं सुनाई पड़ती।

ये तरंगें श्रोता के कान में पहुँच कर बाह्य कर्ण की झिल्ली से टकरा कर कम्पन उत्पन्न करती हैं। ये कम्पन मध्यवर्ती कर्ण की अस्थियों से होते हुए अन्तःकर्ण के द्रव पदार्थ (कोक्लिया) तक पहुँचते हैं। इनसे जो तरंगें उठती हैं, उसकी सूचना श्रवण-तन्त्रिकाएँ मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं। इस प्रकार प्राप्त ध्वनि-सूचनाओं को मस्तिष्क ग्रहण करके तदनुसार कार्य करता है।

४.५. हम कैसे सुनते हैं?

वक्ता की ध्वनि श्रोता तक वायु और ध्वनि-तरंगों के माध्यम से आती है और इसको कान के द्वारा सुना जाता है। यहाँ पर कान की रचना का संक्षिप्त विवरण जान लेना उचित होगा।

खोपड़ी की जड़ में जुड़े हुए दो कान हैं—एक दाहिनी ओर और दूसरा बायीं ओर। कान को तीन भागों में विभक्त किया जाता है—१. बाह्य कर्ण (External ear), २. मध्य कर्ण (Middle ear) और ३. अन्तःकर्ण (Internal ear or labyrinth)[1]।



चित्र-संख्या—१.

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—ध्वनि और कम्पन : डॉ० अरविन्द मोहन, हिन्दी समिति उ० प्र०, प्रथम संस्करण १९७०, पृ० ६ से ८।

पटह तथा कोक्लिया में संपर्क स्थापित किया जाता है। मध्यकर्ण गुहा की दीवार में हथौड़ी के सामने कोक्लिया के छिद्र दो खिड़कियों के रूप में होते हैं—एक गोल तथा दूसरा अंडाकार। गोल खिड़की पर एक झिल्ली चढ़ी रहती है। छल्ले के नीचे की आधार-पट्टिका (foot plate) अंडाकार खिड़की के ऊपर रहती है। हथौड़े की मूठ लम्बाई में कर्णपटह के भीतर धँसी रहती है और उसका सिरा निहाई से चिपका रहता है। निहाई का निचला भाग छल्ले से मजबूती के साथ जुड़ा रहता है। निम्न आवृत्ति पर यह तीनों एकसाथ मिलकर कम्पन करते हैं।

कर्णावर्त (कोक्लिया) दो अंगों में विभाजित है। यह विभाजन आधार झिल्ली द्वारा होता है। आधार झिल्ली की भीतरी कोर पर ३५०० बाल के समान कोशिकाएँ (Sensory cells) हैं। बाहरी कोर पर भी तीन-चार पंक्ति में लगभग १२ हजार से १ लाख २० हजार बाल के समान कोशिकाएँ होती हैं। ये सब मिलकर तन्त्रिका व्यवस्था का आधार स्थापित करते हैं।[1]

प्रत्येक जीवित सेल की भाँति ये बाल के सेल भी विद्युत्-ध्रुवीकृत (Polarised) रहते हैं। ये सेल विद्युत् धारा के आरम्भ करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काम करते हैं और कोक्लिया से मस्तिष्क तक सूचना भेजने के हेतु श्रवण-संवेदी-केन्द्र (Auditory sensory centre) को चालू करते हैं।

कोक्लिया और श्रवण-संग्रहण (Reception) केन्द्रों के बीच में अनेक जोड़ हैं। इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग भी प्रत्येक कर्णावर्त (कोक्लिया) को मस्तिष्क के दोनों ओर से जोड़ते हैं। कर्ण का यह अंग अत्यन्त विस्मयकारी समुदाय है, जिसका ज्ञान अभी नवीन रूप में प्राप्त हुआ है।[2] जैसे—तान्त्रिक रेशे आधार झिल्ली के विभिन्न भागों से कर्णावर्त में उपयुक्त स्थान पर क्रमानुसार पहुँचते हैं तथा केन्द्रिका में ठीक-ठीक जुड़ जाते हैं।

मस्तिष्क में एक 'अग्र अनुप्रस्थ कपालस्थ कटक' है। यह श्रवण-संग्रहण-केन्द्र (Reception centre) का स्थान है। यदि इस अंग को बाहर से स्पर्श किया जाय, तो हमें ध्वनि उत्पन्न होती हुई प्रतीत होगी।

कर्णावर्त (कोक्लिया) पर पड़नेवाला दाब कभी-कभी वायु कम्पन के ध्वनि दाब का सौ गुना तक बढ़कर हो जाता है। कर्ण की स्वाभाविक कम्पन-आवृत्ति ५०० से १५०० कम्पन प्रति सेकेंड के बीच में ही रहती है।[3]

ध्वनि और कम्पन[4]—ध्वनि का उत्पादन वस्तुओं के कम्पन से होता है। इसका अनुभव सरलता से किया जा सकता है। यदि हमारी वाक्-तन्तु कम्पन करना बन्द कर दे तो एकाएक मुँह से निकलनेवाली ध्वनि समाप्त हो जाती है। सितार के तार को छेड़ने पर

१. ध्वनि और कम्पन, पृ० ४४६ से ४५५।
2. Richardson : *Technical Aspects of Sound*; quoted ref. 27, p. 274, Vol. I.
३. ध्वनि और कम्पन, पृ० ४५३-५५।
४. वही, पृ० २-६।

उसका ऊपर-नीचे दोलन (कम्पन) ध्वनि उत्पन्न करता है, जैसे ही तार को स्पर्श द्वारा रोक देते हैं, वैसे ही उसकी झंकार बन्द हो जाती है। यही स्थिति द्विभुज (Tuning fork) तथा लाउडस्पीकर के शंकु में भी पायी जाती है। प्रयोगों द्वारा सिद्ध है कि प्रत्येक ध्वनि का उद्गम या स्रोत कोई कम्पन करती हुई वस्तु होती है।

4

क्या प्रत्येक कम्पन ध्वनि है?

प्रत्येक ध्वनि कम्पन है। इसी प्रकार प्रत्येक कम्पन में ध्वनि है। हम अनेक बार वस्तुओं में कम्पन देखते हैं, परन्तु ध्वनि का अभाव पाते हैं। जैसे—पत्ते या कपड़े का हिलना। इन कम्पनों से ध्वनि उत्पन्न होती है, परन्तु हमारे कर्ण उसको नहीं सुन पाते। इसका मुख्य कारण ध्वनि की कम तीव्रता या आवृत्ति का विशेष सीमा के भीतर न रहना है।

यदि ध्वनि अत्यन्त कम तीव्रता (Intensity) की है, तो कर्ण उसको पकड़ नहीं पाते हैं। विशेष यन्त्रों की सहायता से हमें इन ध्वनियों का ज्ञान हो सकता है।

हम केवल उन्हीं ध्वनियों को सुन सकते हैं, जिनकी आवृत्ति (frequency) २० चक्र प्रति सेकेंड से अधिक है और २० हजार चक्र से कम है। इसलिए २० चक्र प्रति सेकेंड से कम और २० हजार चक्र से अधिक आवृत्तिवाली ध्वनियाँ हमें नहीं सुनाई पड़ती हैं। २० हजार चक्र से अधिक आवृत्तिवाली ध्वनियों को 'पराश्रव्य' कहते हैं। कुत्ते, चमगादड़, मछलियों आदि की श्रवण शक्ति मनुष्य से बहुत अधिक है। जो ध्वनि हम नहीं सुन पाते हैं, उनको सुनकर भी कुत्ते सजग होकर कान खड़े कर लेते हैं।

ध्वनि-संचरण और माध्यम—ध्वनि-संचरण के बारे में न्यूटन (१६४२-१७२७) ने जो मत प्रकट किया है, वह आज भी मान्य है। वायु के कण (या अणुओं) का कम्पन ध्वनि-उत्पादक नहीं है, क्योंकि अणुओं में तो स्वयं गति है। मुँह से उत्पन्न होनेवाला कम्पन जब वायु के सम्पर्क में आता है तो वायु के कणों में भी उसी प्रकार के कम्पन पैदा होने लगते हैं और ये कम्पन एक सतह से दूसरी सतह को प्रभावित करते हुए आगे बढ़ते हैं। वायु के सूक्ष्म परतों का कम्पन (जिसके साथ अनेक अणु होते हैं) विरलन या संघनन (Rarefaction & Compression) का स्वरूप लेकर ध्वनि संचरण करता है।

ध्वनि-संचरण के लिए एक माध्यम की आवश्यकता है। प्रयोग से सिद्ध है कि वायु-रहित स्थान की ध्वनि क्षीण हो जाती है और वायु आने पर ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। काँच के जार में निर्वात (Vacuum, वेक्यूम) पैदा कर देने पर उसके अन्दर की हवा निकल जाती है, अतः उसमें रखी हुई घड़ी की ध्वनि बाहर नहीं सुनाई पड़ती है। वायु पुनः प्रविष्ट करा देने पर उसकी ध्वनि फिर सुनाई देने लगती है। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनि निर्वात में नहीं चलती है।

ध्वनि का संचरण ठोस, द्रव तथा गैस में से किसी माध्यम से हो सकता है। सामान्यतया वार्तालाप आदि में ध्वनि का संचरण वायु के माध्यम से होता है। आधुनिक विज्ञान ईथर (Ether) की सत्ता (Existence) को स्वीकार नहीं करता है। रेडियो स्टेशन आदि से प्रसारित होने वाली ध्वनि रेडियो-तरंगों (Radio waves) के द्वारा सर्वत्र पहुँचती है। रेडियो-तरंगें विद्युत-चुम्बकीय (Electromagnetic waves) हैं, अतः इनके संचरण के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती है।

Ramya, Shivani

के मध्य का भाग है। यह कठोर तालु और कोमल तालु के संधिस्थल के नीचे का भाग है। इसके द्वारा मध्यस्वर या केन्द्रीय स्वरों (Central Vowels) का उच्चारण होता है। ऐसी ध्वनियाँ अंग्रेजी और जर्मन आदि में प्राप्य हैं। ə (उल्टा ई, श्वा, Schwa) का उच्चारण यहीं से होता है।

(२०) **जिह्वापश्च, जिह्वामूल** (Back of the Tongue, Dorsum, डोर्सम, Root of Tongue)—जिह्वामध्य के डेढ़ इंच के बाद जो भाग शेष रहता है उसको पाश्चात्त्य विद्वानों ने जिह्वा-पश्च नाम दिया है। उन्होंने जिह्वापश्च और जिह्वामूल दोनों को एक में ही संग्रह किया है। जिह्वा की साधारण स्थिति में यह अंश कोमल तालु के नीचे पड़ता है। कोमल तालु के विषय में बताया जा चुका है कि इसके साथ ही कौवा भी सम्बद्ध है। यह नासा-विवर के लिए ढक्कन का काम देता है। जिह्वा-पश्च का पिछला भाग कोमल तालु से मिलकर विभिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न करता है।

(क) यह अन्दर से आनेवाली वायु को विभिन्न रूपों में प्रभावित करके उ, ओ आदि स्वर ध्वनियों के उत्पादन में सहायक होता है। मानस्वर के सभी पश्चस्वर (Back Vowels) जिह्वापश्च के ऊपर या नीचे होने से होते हैं।

(ख) यह कोमल तालु के साथ मिलकर कण्ठ्य ध्वनियों क्, ख्, ग् आदि की सृष्टि करता है।

(ग) जिह्वापश्च का अन्तिम भाग अर्थात् जिह्वामूल कोमलतालु और कौवा से मिलकर जिह्वामूलीय, क़्, ख़् आदि ध्वनियों की सृष्टि करता है। उर्दू, फारसी और अरबी में ऐसी जिह्वामूलीय ध्वनियाँ अनेक हैं। ल्क, ल्ग आदि ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा-पश्च ल के उच्चारण करते समय पार्श्व से वायु को निकलने देता है। जैसे—मिल्क (Milk, दूध) या वल्गर (Vulgar, असभ्य) के उच्चारण में ल् ध्वनि का उच्चारण।

(घ) जिह्वापश्च के पार्श्व भाग उठे रहते हैं, नाली-सी बनाते हैं। कौवा उस नाली के सामने लटक कर एक संघर्षी ध्वनि उत्पन्न करता है। जैसे फ्रेंच भाषा का रूज़ (Rouge, लाली) शब्द; यह कुछ गूज-सा उच्चारित होता है।

(ङ) जिह्वापश्च कोमलतालु और कौवा के समीपवर्ती होकर वायु-मार्ग को संकीर्ण करता है। इससे संघर्षी ध्वनि उत्पन्न होती है। ये ध्वनियाँ उर्दू और अरबी के ख़, ग़ के उच्चारण में सुनाई पड़ती हैं।

(च) जिह्वापश्च पीछे की ओर हट कर गलबिल के मार्ग को संकीर्ण करके एक विशेष प्रकार की संघर्षी ध्वनि उत्पन्न करता है। ऐसी एक ध्वनि अरबी में सुनाई पड़ती है।

जिह्वापश्च से उच्चरित ध्वनियों को जिह्वापश्चीय कहा जाता है। इसका प्रचलित नाम कण्ठ्य है। कण्ठ्य के अग्र, मध्य और पश्च स्थानों के भेद से यहाँ से उत्पन्न ध्वनियों को क्रमशः कण्ठाग्रीय (Prevelar), कण्ठमध्यीय (Mediovelar), कण्ठ-पश्चीय (Post-velar) कहते हैं। कण्ठपश्चीय को अलिजिह्वीय (Uvular) भी कहते हैं। गलबिल में उत्पन्न ध्वनियों को जिह्वामूलीय, उपालिजिह्वीय या गलबिलीय (Pharyngal) कहते हैं। जिह्वापश्च से उच्चरित स्वर ध्वनियों को पश्च-स्वर कहा जाता

है। इसमें उ, ओ, आ ध्वनियाँ जिह्वा-पश्च को ऊँचा या नीचा करके उच्चरित होती हैं।

४.१०. वाग्यन्त्र का वर्गीकरण

दो भेद—वाग्यंत्र के समस्त अवयवों को कार्य और उपयोगिता की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जाता है : १. करण (Articulators), २. स्थान (Points of Articulation)।

१. करण (Articulators)—वाग्यन्त्र के उन अवयवों को कहते हैं जो सामान्यतया इधर-उधर गतिशील हो सकते हैं और इस आधार पर वे अपनी विभिन्न स्थितियाँ धारण कर सकते हैं। इस दृष्टि से ओष्ठ और जिह्वा आदि करण कहे जाते हैं। ये अवयव अपने स्थान से हिल सकते हैं। इसी आधार पर जिह्वा के अग्र, मध्य और पश्च भेद किये जाते हैं। इसको ऊँचाई और निचाई के आधार पर संवृत, अर्ध-संवृत, अर्ध-विवृत और विवृत भेद किये जाते हैं। इसी प्रकार ओष्ठ के वृत्ताकार, अवृत्ताकार भेद किये जाते हैं।

२. स्थान या उच्चारण-स्थान (Points of articulation)—वाग्यंत्र के उन अवयवों को कहते हैं, जो अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं और जिह्वा आदि जिन स्थानों के पास जाती है या उनका स्पर्श करती है। दन्त, तालु, मूर्धा आदि इस प्रकार के अवयव हैं। जिह्वा दाँत, तालु, मूर्धा आदि के समीप जाती है या उनका स्पर्श करती है। जिह्वा की यह गतिशीलता न होती तो अनेक ध्वनियों का उच्चारण सम्भव ही न होता। ऊपर के दाँतों को स्थान में लिया जाता है, क्योंकि वे अपने स्थान पर स्थित हैं, उनमें गति नहीं है और जिह्वा करण के रूप में उसका स्पर्श करती है। इन अवयवों का विस्तृत वर्णन यथा-स्थान किया गया है।

5

४.११. स्वर और व्यंजन (Vowels and Consonants)

नामकरण एवं महत्त्व—ध्वनियों का सबसे प्राचीन और अभी तक प्रचलित वर्गीकरण स्वर और व्यंजन के नाम से मिलता है। आचार्य पतंजलि ने महाभाष्य में स्वर और व्यंजनों के विभाजनों का उल्लेख किया है। स्वरों के विषय में उनका कथन है कि स्वर वे ध्वनियाँ हैं जो स्वयं उच्चरित हो सकती हैं। व्यंजन उन ध्वनियों को कहते हैं जिनका उच्चारण स्वरों की सहायता के बिना नहीं हो सकता है। 'स्वयं राजन्ते इति स्वराः। अन्वग् भवति व्यंजनम् इति' (महाभाष्य १।२।२९-३०)। पतंजलि ने स्वरों की स्वतन्त्र सत्ता मानी है और व्यंजनों को उनके अधीनस्थ कार्यकर्ता माना है। उनका कथन है कि—व्यंजनों की वही स्थिति है जो नटों की स्त्रियों की होती है। नटों की स्त्रियाँ रंगस्थल में यह पूछे जाने पर कि तुम किसकी स्त्री हो? वे प्रत्येक को यह उत्तर देती हैं कि हम तुम्हारी हैं। इसी प्रकार व्यंजन भी जिस स्वर से सम्बद्ध होते हैं, उसी के अनुकूल कार्य करते हैं।

व्यंजनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद् यथा नटानां स्त्रियो रंगगता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तं तवेत्याहुः। एवं व्यंजनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते। (महाभाष्य ६।१।२)

स्वर और व्यंजनों की इस उच्चता और नीचता का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है।[1] याज्ञवल्क्य-शिक्षा[2] और वृत्तित्रयवार्तिक आदि ग्रन्थों में यही भाव व्यक्त किया गया है।

पतंजलि ने स्वरों की प्रधानता और व्यंजनों की अप्रधानता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। उनका कथन है कि स्वर के बिना व्यंजन का उच्चारण नहीं हो सकता है।

न पुनरन्तरेणाचं व्यंजनस्योच्चारणमपि भवति।

आचार्य पतंजलि के इस कथन से वर्तमान भाषाशास्त्री अधिकांशतः सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि कुछ भाषाओं में ऐसी ध्वनियाँ हैं, जो स्वर-रहित हैं और बोली जाती हैं। जैसे—अंग्रेजी में शोर करते हुए बालकों को रोकने के लिए श् कहा जाता है। इसी प्रकार चेक भाषा का एक पूरा वाक्य उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें एक भी स्वर नहीं है। Strc prst Skrz Krk (अपने गले में उँगली दबाओ)। अफ्रीका की इबो भाषा में भी इसी प्रकार का ५ व्यंजनों वाला एक शब्द मिलता है, जिसमें कोई स्वर नहीं है—ng ng n (पार्सल)।

जिन भाषाशास्त्रियों ने इस पर आक्षेप किया है, उनका विचार पूर्णतया उचित नहीं है। पतंजलि ने संस्कृत-भाषा के परिप्रेक्ष्य में ये बातें कही हैं। केवल व्यंजन वाले शब्द संस्कृत में नहीं हैं। भट्टोजि दीक्षित ने मनोरमा में यह संकेत किया है कि व्यंजन-ध्वनियों का स्वतंत्र रूप से उच्चारण किया जा सकता है, परन्तु ऐसा उच्चारण सरल नहीं है।

स्वर और व्यंजन के विभाजन के विषय में यह तथ्य विशेष रोचक है कि पतंजलि के समकाल में हुए यूनानी वैयाकरण डियोनिसियस थ्राक्स ने भी स्वर और व्यंजन के रूप में ध्वनियों का विभाजन किया है। उनका कथन है कि—स्वर वे ध्वनियाँ हैं, जिनका उच्चारण बिना अन्य किसी ध्वनि की सहायता के किया जा सकता है। व्यंजन उन ध्वनियों को कहते हैं, जिनका उच्चारण स्वरों की सहायता के बिना नहीं किया जा सकता है। पतंजलि और थ्रेक्स ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में हुए थे।

स्वर और व्यंजन शब्द—स्वर शब्द स्वृ धातु से बना है। (स्वृ शब्दोपतापयोः, अर्थात् शब्द करना)। ऋग्वेद में यह शब्द ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बाद में स्वर शब्द का प्रयोग उदात्त आदि स्वरों के लिए हुआ है और फिर यह स्वर और व्यंजन भेद में से स्वरों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार व्यंजन शब्द वि + अञ्ज् + ल्युट् (अन) अर्थात् वि उपसर्गपूर्वक अञ्ज् धातु से बना है। (अञ्ज् व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गतिषु) अञ्ज् धातु का अर्थ है—व्यक्त होना या प्रकट होना। ऐतरेय आरण्यक में सम्भवतः सर्वप्रथम स्वर-व्यंजन के भेद का स्पष्ट उल्लेख है।

१. यः स्वयं राजते तं तु स्वरमाह पतंजलिः।
उपरिस्थायिना तेन व्यंग्यं व्यंजनमुच्यते॥
२. दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान् नृपः।
दुर्बलं व्यंजनं तद्वद् हरते बलवान् स्वरः॥ (याज्ञवल्क्य शिक्षा)

स्वर और व्यंजन की परिभाषा

दोनों की संक्षिप्त परिभाषा निम्नलिखित है—

'स्वर वह ध्वनि है, जिसके उच्चारण में वायु अबाध गति से मुख-विवर से बाहर निकलती है।'

'व्यंजन वह ध्वनि है, जिसके उच्चारण में वायु अबाध गति से बाहर नहीं निकल पाती।'

स्वर और व्यंजन की विस्तृत परिभाषा ब्लाख और ट्रेगर ने इस प्रकार दी है—

1. 'A VOWEL is a sound for whose production the oral passage is unobstructed, so that the air current can flow from the lungs to the lips and beyond without being stopped, without having to squeeze through a narrow constriction, without being deflected from the median line of its channel, and without causing any of the supraglottal organs to vibrate; it is typically but not necessarily voiced'.

2. 'A CONSONANT, conversely, is a sound for whose production the air current is completely stopped by an occlusion of the larynx or the oral passage, or is forced to squeeze through a narrow constriction, or is deflected from the median line of its channel through a lateral opening, or causes one of the supraglottal organs to vibrate.' (*Outlines of Linguistic Analysis*, p.18)

"**स्वर**, उन ध्वनियों को कहते हैं, जो मुख में किसी प्रकार अवरुद्ध हुए बिना उच्चरित होते हैं। फेफड़ों से आनेवाली वायु ओष्ठ और उससे आगे तक कहीं अवरुद्ध नहीं होती। इसको कहीं बहुत संकीर्ण मार्ग से नहीं निकलना पड़ता है। यह मुख-विवर की स्वर-सीमा से ऊपर नहीं जाती है और इसमें स्वरतंत्री से ऊपर वाले किसी वाग्-अवयव में कम्पन नहीं होता है। यह साधारणतया घोष ध्वनि होती है। परन्तु ऐसा अनिवार्य नहीं है।"

"**व्यंजन**, वह ध्वनि है, जिसके उच्चारण में फेफड़ों से आनेवाली वायु स्वरतंत्री या मुखमार्ग में कहीं पूर्णतया रोकी जाती है, या अत्यन्त संकुचित मार्ग से निकलती है, या मुख-विवर की स्वर-सीमा से हटते हुए जिह्वा के एक या दोनों ओर से निकलती है या स्वरतंत्री से ऊपर वाले किसी वाग्-अवयव में कम्पन पैदा करती है।"

अधिकांश भाषा-शास्त्रियों स्वीट, पाल, डेनियल जोन्स आदि ने यह परिभाषा स्वीकार की है। इन्होंने स्पष्ट किया है कि स्वर और व्यंजन की यह परिभाषा तथा विभाजन-रेखा पूर्णतया संतोषजनक नहीं है। क्योंकि, कुछ ध्वनियाँ ऐसी हैं, जिनमें यह लक्षण पूरा नहीं घटता है। ईश और ऊसर आदि में ई और ऊ ध्वनियाँ जिह्वा के अग्र और पश्च भाग को काफी ऊँचा उठाने पर बोली जाती हैं। इनको थोड़ा-सा और ऊपर उठा दें तो ऊपरी भाग के समीप पहुँच कर रुकावट पैदा करते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि

ई और ऊ की तुलना में व्यंजन ह के उच्चारण में अवरोध कम है। केनियन का कहना है कि ल की अपेक्षा ई में अवरोध अधिक है। यहाँ अवरोध से अभिप्राय मुख-विवर में होनेवाले अवरोध से है, स्वरतंत्री में होने वाले अवरोध से नहीं।

स्वर-सीमा—मुख-विवर में यह एक काल्पनिक सीमा मानी जाती है। यह मुख-विवर के ऊपरी भाग के नीचे लगभग २ मिलीमीटर से गुजरती है। यदि जिह्वा को थोड़ा और ऊपर उठायेंगे तो अन्तस्थ की सीमा होगी और जीभ को ऊपर स्पर्श करने पर स्पर्श की सीमा होती है। इस स्वर सीमा से ऊपर यदि जीभ चली जायेगी तो वह ध्वनि स्वर न होकर व्यंजन हो जायेगी। काल्पनिक होने पर भी उपयोगिता और समझाने की दृष्टि से यह रेखा स्वीकार की जाती है।

स्वर और व्यंजन में अन्तर—स्वर और व्यंजन की परिभाषा में विशेष अन्तर यह बताया गया है कि मुख-विवर में वायु स्वर में अबाध रहती है और व्यंजन ध्वनि में सबाध रहती है। स्वर और व्यंजन में दूसरा भेद यह है कि दोनों की मुखरता (Sonority) में अन्तर होता है। जो ध्वनि अधिक दूर तक सुनायी देती है वह उतनी अधिक मुखर मानी जाती है। सामान्य एवं वैज्ञानिक परीक्षणों से यह सिद्ध हो चुका है कि व्यंजनों की अपेक्षा स्वर अधिक मुखर होते हैं। अतएव संगीतज्ञ साधना के समय अलाप में क······क······क······का अलाप न करके आ······आ······ का अलाप करते हैं।

मुखरता की दृष्टि से स्वरों और व्यंजनों का निम्नलिखित क्रम माना जाता है। इसमें उत्तरोत्तर अधिक मुखर ध्वनियों का उल्लेख है।

१. अत्यल्प मुखर अघोष ध्वनियाँ—क, त, प।
२. इससे अधिक मुखर सघोष ध्वनियाँ—ग, द, ब।
३. इससे अधिक मुखर नासिक्य एवं पार्श्विक ध्वनियाँ—ङ, ञ, म, न, ल्।
४. इससे अधिक मुखर लुंठित ध्वनि—र।
५. इससे अधिक मुखर संवृत स्वर ध्वनियाँ—ई, ऊ।
६. इससे अधिक मुखर विवृत स्वर ध्वनि—आ।

आक्षरिक ध्वनियाँ—प्रो० हेफ्नर (Prof. Heffner, R.M.S.) ने मुखरता को आधार मानकर ध्वनियों को आक्षरिक (Syllabic) और अनाक्षरिक (Non-syllabic) दो भागों में विभक्त किया है। उन्होंने स्वर और व्यंजन के स्थान पर आक्षरिक और अनाक्षरिक नाम से इनका वर्गीकरण किया है। आक्षरिक वे ध्वनियाँ हैं जो बलाघात (Stress) को वहन कर सकती हैं। इस प्रकार बलाघात को वहन करने के कारण स्वर ध्वनियाँ आक्षरिक हैं तथा व्यंजन ध्वनियाँ अनाक्षरिक में आती हैं। सामान्यतया ध्वनि के उच्चारण में स्वरों पर ही बलाघात किया जाता है। कुछ भाषाओं में व्यंजन ध्वनियाँ भी आक्षरिक हैं। जैसे संस्कृत में र और ल ध्वनि। L, M, N अंग्रेजी में भी कुछ शब्दों में आक्षरिक हैं। इसी प्रकार चेक और पुरानी सूडानी भाषाओं में R आक्षरिक है। ब्लाख और ट्रेगर का कथन है कि उच्च स्वरों की अपेक्षा निम्न स्वर अधिक स्पष्टतया श्रव्य होते हैं। इसी प्रकार व्यंजनों की अपेक्षा स्वर की श्रव्यता अधिक

है। इसी मुखरता के आधार पर आक्षरिक-ध्वनियों की गणना एवं उनका वर्णन किया जाता है।[1]

अर्धस्वर या अन्तस्थ (Semivowels)

स्वर और व्यंजन के बीच में कुछ और ध्वनियाँ हैं, जिनको हम अर्ध-स्वर कहते हैं। संस्कृत में इनको अन्तस्थ कहा जाता है। अन्तस्थ का अभिप्राय यह है कि ये ध्वनियाँ न तो स्वर की तरह पूर्णतया अवरोध-रहित हैं और न व्यंजन की तरह पूर्णतया अवरुद्ध। ये ध्वनियाँ य, व हैं, (यरलवा अन्तस्थाः)। र और ल अत्यन्त मुखर होने के कारण आक्षरिक माने जाते हैं और ये स्वरों के अत्यन्त समीप हैं। संस्कृत के य और व तथा अंग्रेजी के Y, W अर्धस्वर हैं। ब्लाख और ट्रेगर ने अर्ध-स्वर के चार भेद दिये हैं तथा इनके उपभेदों का भी विस्तार से वर्णन किया है।[2] अर्ध-स्वरों की दो विशेषताएँ हैं—१. ये स्वरों के तुल्य मुखर नहीं होते, अपितु व्यंजनों के तुल्य अत्यल्प मुखर हैं। २. ये स्वरों के तुल्य बलाघात को वहन नहीं कर सकते हैं, अपितु व्यंजनों के तुल्य बलाघात-रहित रहते हैं।

ब्लाख और ट्रेगर ने अर्धस्वर य् और व् के सघोष और अघोष दो भेद और माने हैं।[3]

४.१२. वैदिक-ध्वनियाँ

वैदिक संस्कृत में निम्नलिखित ५२ ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं—

स्वर

मूलस्वर—अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ	लृ	ए	ओ		= ११
संयुक्त स्वर—ऐ (अइ), औ (अउ)												= २

व्यंजन

स्पर्श—	क्	ख्	ग्	घ्	ङ्	(कण्ठ्य)	
	च्	छ्	ज्	झ्	ञ्	(तालव्य)	
	ट्	ठ्	ड् (ळ्)	ढ् (ळ्ह)	ण्	(मूर्धन्य)	
	त्	थ्	द्	ध्	न्	(दन्त्य)	
	प्	फ्	ब्	भ्	म्	(ओष्ठ्य)	= २७
अन्तस्थ—	य्	र्	ल्	व्			= ४
अघोष संघर्षी—	श्	ष्	स्				= ३
घोष ऊष्म—	ह						= १
अघोष ऊष्म—	: (विसर्ग),	ˇक् (जिह्वामूलीय),	ˇप् (उपध्मानीय)				= ३
शुद्ध अनुनासिक—	ं (अनुस्वार)						= १
							५२

1. B. Bloch and G. Trager : *An Outline of Linguistic Analysis*, p. 22.
२. वही, पृष्ठ २३।
३. वही, पृष्ठ २४।

४.१३. संस्कृत–ध्वनियाँ

संस्कृत में ४८ ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं, वे ये हैं—

स्वर

मूलस्वर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ओ	= ११
संयुक्त स्वर—ऐ (अइ), औ (अउ)	= २

व्यंजन

स्पर्श—	क्	ख्	ग्	घ्	ङ्	(कण्ठ्य)	
	च्	छ्	ज्	झ्	ञ्	(तालव्य)	
	ट्	ठ्	ड्	ढ्	ण्	(मूर्धन्य)	
	त्	थ्	द्	ध्	न्	(दन्त्य)	
	प्	फ्	ब्	भ्	म्	(ओष्ठ्य)	= २५

अन्तस्थ— य् र् ल् व्	= ४
अघोष संघर्षी—श् ष् स्	= ३
घोष ऊष्म—ह	= १
अघोष ऊष्म— : (विसर्ग)	= १
शुद्ध अनुनासिक— ं (अनुस्वार)	= १
	४८

४.१४. हिन्दी–ध्वनियाँ

हिन्दी में निम्नलिखित ५४ ध्वनियाँ प्रचलित हैं—

स्वर

मूलस्वर—अ आ इ ई उ ऊ ए ओ	= ८
ऐ (अइ), औ (अउ)	= २

व्यंजन

स्पर्श—	क् (क़्)	ख्	ग्	घ्	
	ट्	ठ्	ड्	ढ्	
	त्	थ्	द्	ध्	
	प्	फ्	ब्	भ्	= १७

संघर्षी—ह, ख़्, ग़्, स्, श्, ज़्, फ़्, व्	= ८
स्पर्श-संघर्षी—च्, छ्, ज्, झ्	= ४
अनुनासिक—ङ्, (ञ्), ण्, न्, न्ह्, म्, म्ह्	= ७
पार्श्विक—ल्, (ल्ह्)	= २
लुंठित—र् (र्ह्)	= २
उत्क्षिप्त—ड़्, ढ़्	= २
अन्तस्थ—य्, व्	= २
	५४

हिन्दी–ध्वनियाँ

हिन्दी-ध्वनियों का वर्गीकरण

(अ०=अल्पप्राण, म०=महाप्राण)

स्थान

प्रयत्न		द्व्योष्ठ्य	दन्तोष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	तालव्य	मूर्धन्य	कण्ठ्य	जिह्वामूलीय	स्वरयंत्रमुखी
(व्यंजन)										
स्पर्श	अ०	प् ब्		त् द्			ट् ड्	क् ग्	क़्	
,,	म०	फ् भ्		थ् ध्			ठ् ढ्	ख् घ्		
स्पर्श संघर्षी	अ०					च् ज्				
,,	म०					छ् झ्				
अनुनासिक	अ०	म्			न्	ञ्	ण्	ङ्		
,,	म०	म्ह्			न्ह्					
पार्श्विक	अ०				ल्					
,,	म०				(ल्ह्)					
लुंठित	अ०				र्					
,,	म०				(र्ह्)					
उत्क्षिप्त	अ०						ड़्			
,,	म०						ढ़्			
संघर्षी			फ़् व्		स् ज़्	श्			ख़् ग़्	ह ह् (:)
अर्धस्वर			व्			य्				
(स्वर)										
संवृत						ई		ऊ		
						इ		उ		
अर्धसंवृत						ए		ओ		
						(ऍ)	(अँ)	(ऑ)		
अर्धविवृत							अ			
विवृत								ऑ		
								आ		

यहाँ यह स्मरण रखना उचित है कि केवल स्वर नाम के आधार पर सभी स्वर आक्षरिक नहीं हैं। इसी प्रकार सभी व्यंजन भी अनाक्षरिक नहीं हैं। जिस प्रकार कुछ स्वर अनाक्षरिक हैं, उसी प्रकार कुछ व्यंजन भी आक्षरिक हैं।

अनाक्षरिक स्वर (Non-Syllabic Vowels)—आक्षरिक स्वर का निर्णय बलाघात (Stress) के आधार पर किया जाता है। यदि क्रमश: दो स्वर हैं, जैसे—आए, गए, और यदि दोनों स्वर मुखर हैं तो उन्हें दो स्वतंत्र आक्षरिक माना जायेगा। यदि दो इकट्ठे स्वरों में एक मुखर है और दूसरा नहीं, तो दोनों स्वरों को एक आक्षरिक माना जाएगा। जैसे—फ्रेंच में Pays (पेई, देश, मातृभूमि) में दो स्वर दो अक्षरों के शृंग हैं, अत: इसमें दो आक्षरिक माने जाते हैं। इसके विपरीत अंग्रेजी में Pay (पे, वेतन) में केवल एक ही आक्षरिक है। आएँगे, जाएँगे में तीन-तीन आक्षरिक माने जाएँगे। जैसे—फ्रेंच—Aerer (आएरे, हवा करना) में तीन आक्षरिक माने जाते हैं। संयुक्त स्वरों में दो-दो ध्वनियाँ होती हैं। जैसे—ऐ = अइ, औ = अउ, इनमें प्रथम ध्वनि आक्षरिक है और दूसरी ध्वनि अनाक्षरिक। अत: प्रथम ध्वनि मुखर होने के कारण स्वरों के तुल्य आक्षरिक रहती है और दूसरी ध्वनि (इ, उ) मुखर न होने के कारण व्यंजनों के तुल्य अनाक्षरिक होती है। इसका स्थान व्यंजन के समकक्ष है। अनाक्षरिक स्वर की सूचना के लिए संयुक्त स्वरों के इ और उ के नीचे लघु स्वर-बोधक (‿) चिह्न लगा दिया जाता है। जैसे—ei, au में इ और उ।

आक्षरिक व्यंजन (Syllabic Consonants)—साधारणतया व्यंजन अनाक्षरिक होते हैं। परन्तु कुछ व्यंजन ऐसे भी हैं, जो आसपास की व्यंजन ध्वनियों से अधिक मुखर होते हैं। इस आधार पर इन व्यंजनों को भी आक्षरिक माना जाता है। इनमें मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं—म्, न्, ल् और र्। स् भी कहीं-कहीं आक्षरिक के रूप में पाया जाता है। अन्य व्यंजन भी आवश्यकतानुसार आक्षरिक हो सकते हैं। यह सब कुछ उनकी मुखरता पर निर्भर है। जैसे—Apple (एप्ल्, सेब), Rhythm (रिद्म्, लय), Button (बट्न्, बटन)। इन तीनों में दूसरे अक्षर में कोई स्वर नहीं है, अंत में ल् म्, न् व्यंजन हैं। ये तीनों अधिक मुखरता के साथ बोले जाते हैं, अत: ये स्वर के बराबर माने जाते हैं और आक्षरिक हैं। प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने संभवत: इसीलिए बलाघात को वहन करने और मुखरता के कारण र् और ल् को आक्षरिक मानते हुए इन्हें ऋ और लृ के रूप में स्वतंत्र स्वर माना है।

आन्तरिक मुखरता के आधार पर सभी ध्वनियों को आठ वर्ग में बाँटा गया है। इनमें क्रमश: बाद वाली ध्वनियाँ अधिक मुखर हैं—

१. सबसे कम मुखर ध्वनियाँ—अघोष स्पर्श, क् ख् च् छ् त् थ् आदि।
२. इससे अधिक मुखर सघोष ध्वनियाँ—ग् घ् द् ध् ब् भ् आदि।
३. इनसे अधिक मुखर नासिक्य और पार्श्विक ध्वनियाँ—ङ् ण् न् म् ल् आदि।
४. इनसे अधिक मुखर लुंठित ध्वनि—र्।
५. इससे अधिक मुखर संवृत स्वर—इ उ।
६. इससे अधिक मुखर अर्धसंवृत स्वर—ए ओ।

७. इससे अधिक मुखर अर्धविवृत स्वर—एँ ओँ।
८. सबसे अधिक मुखर विवृत स्वर—आ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अघोष ध्वनियों की अपेक्षा घोष ध्वनियाँ अधिक मुखर हैं। उनसे भी अधिक नासिक्य ध्वनियाँ और उनसे अधिक मुखर लुंठित ध्वनि है। यह व्यंजन ध्वनियों की मुखरता का क्रम है। व्यंजनों से अधिक मुखर स्वर ध्वनियाँ हैं। उनका क्रम इस आधार पर है कि जो ध्वनि जितनी अधिक संवृत (बन्द) है, वह उतनी ही कम मुखर है। जो ध्वनि जितनी विवृत (मुख-द्वार खुला) होती जाएगी, वह उतनी ही मुखर हो जाएगी। इस प्रकार पूर्ण विवृत होने के कारण 'आ' ध्वनि सबसे अधिक मुखर है। इसी आधार पर गायक आ आ का आलाप करते हैं।

अक्षर के भेद

अक्षरों को दो भागों में बाँटा जाता है—मुक्त और बद्ध। **मुक्त अक्षर** (Open Syllable) उन्हें कहते हैं, जब अक्षर की अन्तिम ध्वनि स्वर होती है। जैसे—गमन, भोजन, मान, दान, लेना, देना आदि। **बद्ध अक्षर** (Closed Syllable) उन्हें कहते हैं, जिनके अन्त में व्यंजन होता है। जैसे—वाक्, भगवत्, विद्वान्, धनवान्, उठ्, घर् आदि। हिन्दी में उठ, घर आदि का उच्चारण हलन्त ही किया जाता है। अंग्रेजी की पुस्तकों में मुक्त अक्षर को V (Vowel, स्वर) के द्वारा और बद्ध अक्षर को C (Consonant, अर्थात् व्यंजन) के द्वारा सूचित किया जाता है। जैसे—पाठ—CVCV, वाक्—CVC।

४.२२. ध्वनि-गुण (Sound Quality)

ध्वनि-गुण को ध्वनि-लक्षण (Sound attributes) भी कहते हैं। इसको अन्य नाम भी दिए गए हैं, जैसे—छन्द:शास्त्रीय तत्त्व या रागीय तत्त्व (Prosodic feature), अखण्ड ध्वनियाँ (Supra-segmental Sounds), रागिम (Prosodeme)।

अब तक भाषा की आधारभूत स्वर और व्यंजन ध्वनियों का उल्लेख किया गया है। इन ध्वनियों का पृथक्-पृथक् या असंबद्ध रूप में वर्णन किया गया है। भाषा का सार्थक अवयव वाक्य है और वाक्य में स्वर या व्यंजन स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त न होकर संबद्ध रूप में उच्चरित होते हैं। इस कारण विभिन्न ध्वनियों में मात्रा, स्वर (सुर), आघात और वृत्ति में अन्तर होता है। वाक्य के विवेचन में केवल स्वर और व्यंजनों का ज्ञान पर्याप्त नहीं है, अपितु प्रत्येक की मात्रा, सुर, बलाघात और वृत्ति का भी ज्ञान आवश्यक होता है। आघात (Accent) में ही सुर (Pitch Accent) और बलाघात (Stress Accent) दोनों का विवेचन किया जाता है। मुख्य रूप से मात्रा और आघात को ही पाश्चात्त्य विद्वानों ने ध्वनि-गुण में लिया है। भारतीय विद्वानों ने वृत्ति को भी ध्वनि-गुण माना है।

४.२२. (क) मात्रा (Quantity)

पाश्चात्त्य विद्वानों ने मात्रा के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे—

(ix) स्वनगुण

कुछ तत्त्व ऐसे होते हैं जो स्वनों के साथ रहते हैं, उन से अलग नहीं किये जा सकते, लेकिन वे अपने-आपमें स्वन नहीं होते। इन्हें स्वनगुण कहा जाता है। स्वनगुण तीन होते हैं - मात्रा, बल और सुर।

1. किसी स्वन के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे हम स्वन की कालमात्रा या **मात्रा** कहते हैं। यदि हम कोई स्वन चौथाई सेकेण्ड में बोल सकते हैं तो उस स्वन की मात्रा चौथाई सेकेण्ड है। यदि कोई स्वन अपने उच्चारण के लिए एक तिहाई सेकेण्ड लेता है तो उस स्वन की मात्रा तिहाई सेकेण्ड है। समय के छोटे से छोटे भाग का अन्तर ध्यान में रखें तो मात्रा की अनगणित कोटियाँ निर्धारित करनी पड़ेगी। वास्तव में हमें किसी भाषा में कुछ ही मात्राओं का भेद स्वीकार करना होता है क्योंकि किसी स्वन के दो उच्चारणों में होने वाला अल्प भेद भाषा में उपेक्षणीय होता है। इसलिए एक निश्चित सीमा तक की सभी कालमात्राओं को हम एक ही मात्रा मानते हैं। उस सीमा के बाद फिर एक निश्चित सीमा की सारी कालमात्राएँ एक दूसरी मात्रा के रूप में स्वीकार की जाती हैं। इस प्रकार संस्कृत के स्वनज्ञों ने संस्कृत के स्वरों के लिए तीन मात्राओं का वर्गीकरण पर्याप्त समझा है और उन्हें **ह्रस्व, दीर्घ** तथा **प्लुत** की संज्ञा दी है। सामान्यतः ऐसा समझा जाता है कि दीर्घ स्वर के उच्चारण में ह्रस्व स्वर के उच्चारण की अपेक्षा दूना समय लगता है और प्लुत स्वर के उच्चारण में तिगुनी कालमात्रा लगती है। वास्तव में यह पूर्णतः सत्य नहीं है। हम केवल इतना कह सकते है कि ये कालमात्रा के विभाग है जो क्रमशः अधिक होते गये है।

हिन्दी में स्वरों की दो मात्राएँ मिलती है जिन्हें हम ह्रस्व और दीर्घ कह सकते हैं। प्लुत के भी कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं (उदाहरणार्थ- किसी का नाम लेकर पुकारते समय) लेकिन भाषा में उनका उल्लेखनीय स्थान नहीं है। मात्रा-भेद के उदाहरण देखिये-

कल	-	काल
तन	-	तान
मर	-	मार
मिल	-	मील
तुल	-	तूल

Quantity (मात्रा-परिमाण), Length (दीर्घता या लम्बाई), Duration (मात्रा-काल), Mora (मोरा, मात्राकाल), Chrono (क्रोनो, समय या मात्रा)। इसी आधार पर मात्रा की इकाई को मात्रिम (Chroneme) कहा जाता है।

किसी भी ध्वनि के उच्चारण में समय का जो अंश लगता है, उसे मात्रा कहते हैं। इस आधार पर भाषा में मात्राकाल का अध्ययन किया जाता है। देखने में आता है कि प्रत्येक ध्वनि में बराबर समय नहीं लगता है। किसी ध्वनि के उच्चारण में कम समय लगता है, किसी के उच्चारण में अधिक। इसके आधार पर संस्कृत में मात्रा के तीन भेद किये गये हैं—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। (ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः, अष्टा० १-२-२७) पाणिनि ने अर्ध-ह्रस्व का भी उल्लेख किया है। (तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्, अष्टा० १-२-३२) इसी प्रकार अर्ध-दीर्घ या दीर्घार्ध भी भेद हो सकता है। ब्लाख और ट्रेगर ने अंग्रेजी पद्धति से मात्राओं के ५ भेद दिए हैं—Overlong (प्लुत), Long (दीर्घ), Half-Long (दीर्घार्ध या ईषत्-दीर्घ), Short (ह्रस्व), Half-Short (ह्रस्वार्ध या अर्ध-ह्रस्व)। यद्यपि मात्राओं के और सूक्ष्म भेद किए जा सकते हैं, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से पाँच भेद ही पर्याप्त हैं।

सामान्यतया ह्रस्व की एक मात्रा, दीर्घ की दो मात्राएँ और प्लुत की तीन मात्रा मानी जाती हैं। माना जाता है कि ह्रस्व का दुगना समय दीर्घ में लगता है और प्लुत में ह्रस्व का तिगुना समय। इस समय-निर्धारण को पूर्णतया वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है, फिर भी समझने के लिए यह उपयुक्त है। यंत्रों द्वारा यह ज्ञात किया गया है कि अंग्रेजी के ह्रस्व स्वर के उच्चारण में .२२८ सेकेंड और दीर्घ के उच्चारण में .३१८ सेकेंड समय लगता है। इस प्रकार दीर्घ के उच्चारण में ह्रस्व से दुगना समय कहना अवैज्ञानिक है। सामान्यतया ह्रस्व और दीर्घ दो मात्राओं का ही प्रयोग होता है। प्लुत का प्रयोग बहुत कम प्रचलित है। प्लुत के लिए स्वर के बाद ३ अंक लिखा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि उस स्वर को तिगुनी मात्रा में बोला जायगा, जैसे—ओ३म् में ओ को तिगुना खींचा जायगा। संस्कृत में दूर से बुलाना और अभिवादन आदि में प्लुत का प्रयोग मिलता है।

ह्रस्व—स्वरों में अ इ उ ऋ लृ को ह्रस्व स्वर कहा जाता है। छन्दःशास्त्र में ह्रस्व को लघु कहते हैं। इसकी एक मात्रा मानी जाती है। जैसे—'कमल' में तीन लघु वर्ण होने के कारण तीन मात्राएँ होंगी। शुक्ल यजुःप्रातिशाख्य और अथर्ववेदप्रातिशाख्य में मात्रा शब्द का उल्लेख है और व्यंजन की आधी मात्रा मानी गई है। व्यंजनों में भी आपेक्षिक अंतर है। स्पर्श ध्वनियों के उच्चारण में सबसे कम समय लगता है। उससे अधिक संघर्षी ध्वनियों में, उससे अधिक ऊष्म वर्णों के उच्चारण में, उससे अधिक पार्श्विक और लुंठित के उच्चारण में, उससे अधिक नासिक्य व्यंजनों के उच्चारण में। वैज्ञानिक यन्त्रों से इनका समय भी नापा गया है। अंग्रेजी के घोष स्पर्श में .०८८ सेकेंड, अघोष स्पर्श में .१२ सेकेंड, संघर्षी में .११२ सेकेंड, पार्श्विक और नासिक्य में .१४६ सेकेंड समय लगता है। इससे ज्ञात होता है कि सबसे अधिक समय दीर्घ स्वरों में लगता है, उससे कम ह्रस्व स्वरों में और उसके बाद नासिक्य आदि क्रम से व्यंजनों में समय लगता है। व्यंजनों में घोष ध्वनियों की अपेक्षा अघोष ध्वनियों में अधिक समय लगता है। स्पर्श ध्वनियों में भी समय में अन्तर है। तवर्ग में सबसे कम, चवर्ग में उससे अधिक और ओष्ठ्य में सबसे अधिक। सामान्य रूप से सभी व्यंजनों की आधी मात्रा मानी जाती है। इसे ह्रस्वार्ध कह सकते हैं।

दीर्घ—दीर्घ स्वरों के उच्चारण में दो मात्रा मानी जाती है। दीर्घ स्वर हैं—आ ई ऊ ॠ ए ऐ ओ औ। दीर्घ स्वरों में भी संयुक्त स्वर ऐ औ के उच्चारण में दीर्घ से भी अधिक समय लगता है। इनको अतिदीर्घ या प्लुत की कोटि में समझना चाहिए। छन्दःशास्त्र के नियमानुसार कुछ विशेष अवस्थाओं में ह्रस्व स्वर के बाद अनुस्वार, विसर्ग या कोई संयुक्त व्यंजन होगा तो लघु स्वर गुरु माना जाता है। पद के अन्तिम लघु स्वर को भी आवश्यकतानुसार दीर्घ माना जाता है।[1] जैसे—पंक में प का अ, नष्ट में न का अ, दुःख में दु का उ पूर्वोक्त कारणों से दीर्घ माना जाता है।

मात्रा के विषय में सभी नियमों का उल्लेख संभव नहीं है। आदमी कभी धीरे बोलता है, कभी जोर से; कभी ऊँचा, कभी नीचा; कभी लगातार, कभी रुक-रुक कर। अतः मात्रा के विषय में कुछ सामान्य नियम दिये जा सकते हैं। (१) बलाघातयुक्त स्वर, चाहे दीर्घ हो या ह्रस्व, बलाघात-हीन से दीर्घ या अधिक मात्रा वाले होते हैं। जैसे—काल, काला, धारा, नीला आदि में प्रथम स्वर पर बलाघात है; अतः वे अन्तिम स्वर से अधिक मात्रा वाले हैं। (२) दीर्घ स्वर के बाद अघोष ध्वनि होने पर स्वर की मात्रा कुछ कम हो जाती है। यदि उसके बाद घोष ध्वनि हो तो मात्रा कुछ बड़ी होती है। जैसे—पाक, भाग। इनमें भाग की अपेक्षा पाक का आ कुछ छोटा उच्चरित होता है। (३) ह्रस्व स्वर में भी पूर्वोक्त नियम (दो) देखा जाता है। जैसे—नख-नग, जप-जब। साधारणतया ह्रस्व स्वर में यह भेद उतना स्पष्ट नहीं होता। (४) शब्द का अन्तिम स्वर अन्य समान स्वरों की तुलना में कुछ कम मात्रा का होता है। जैसे—चाचा-चाची, नाना-नानी, दादा-बाबा आदि; इनमें अन्तिम स्वर पर कम बल रहता है। (५) कम मात्रा वाले शब्दों की अपेक्षा अधिक मात्रा वाले या अधिक लम्बे शब्दों के प्रथम अक्षर अपेक्षाकृत छोटी मात्रा वाले होते हैं। जैसे—बाल-बालक, बाला-बालिका। (६) असंयुक्त व्यंजन से पूर्ववर्ती स्वर की अपेक्षा संयुक्त व्यंजन से पूर्व का स्वर दीर्घ या अधिक बड़ा होता है। जैसे—युग-युक्त, गज-गंगा।

मात्रा-लेखन—संस्कृत और हिन्दी में लघु वर्ण के लिए (।) और गुरु वर्ण के लिए (ऽ) चिह्न हैं। अंग्रेजी में लघु के लिए (˘) और गुरु के लिए (–) चिह्न हैं। भाषाशास्त्र में लघु स्वर को चिह्न-रहित छोड़ देते हैं। उससे कुछ अधिक दीर्घ के लिए (˙) चिह्न है, और दीर्घ के लिए (:) चिह्न है।

४.२२. (ख) आघात (Accent)

आघात के लिए अंग्रेजी में प्रचलित शब्द एक्सेंट (Accent) है। इसके प्रयोग पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। पामर आदि विद्वान् इसका बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग करते

१. सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरुर्भवेत्।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा॥

वास्तव में मात्रा स्वरों में ही नहीं, व्यंजनों में भी होती है। हिन्दी में व्यंजनों में कालमात्रा का भेद अधिक उल्लेखनीय है क्योंकि मात्रा-भेद वाले व्यंजनों में केवल मात्रा का भेद होता है जबकि स्वरों में मात्रा-भेद के साथ-साथ (उच्चारण-स्थान आदि) भेद भी विद्यमान रहता है। ह्रस्व मात्रा वाले व्यंजन के उच्चारण में जितना समय लगता है, दीर्घ मात्रा वाले व्यंजन के उच्चारण में उसके दूने के लगभग समय की आवश्यकता होती है। लिखने में दीर्घ व्यंजनों के लिए लिपिचिह्न दित्व के प्रयोग की परम्परा है। कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं -

पता	-	पत्ता
सजा	-	सज्जा
लकड़	-	लक्कड़
पका	-	पक्का

2. किसी अनुक्रम में किसी स्वन पर व्यय की जाने वाली शक्ति **बल** कहलाती है। बल की भी अनेक कोटियाँ हो सकती हैं, किन्तु कोई भाषा बल की कुछ ही कोटियों का महत्त्व स्वीकार करती है। एक निश्चित सीमा तक बल की सारी स्थितियों को एक कोटि के रूप में स्वीकार किया जाता है और उससे आगे एक दूसरे सीमा तक की सारी संभावनाएँ दूसरी कोटि के अन्तर्गत आती हैं। हिन्दी में बल की एक ही कोटि स्वीकार करना पर्याप्त है। शब्द के जिस स्वन में यह बल है, उसके अतिरिक्त सारे स्वन बलहीन हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए। बिना बल का कोई स्वन नहीं होता। हम **बली स्वन** उसे कहते हैं जिसमें अपेक्षाकृत कम बलशाली स्वन को निर्बल कहा जा सकता है। बली स्वन के संकेत के लिए लिपिचिह्न का प्रयोग वर्ण के पहले किया जाता है और स्वनों की निर्बलता के संकेत के लिए लिपिचिह्न की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी के निम्निलिखित शब्दों में बल का स्वरूप दिखाया जा रहा है -

कमल

कि 'सान

हिन्दी में शब्द-स्तर पर मिलने वाले इस प्रकार के बल की उपयोगिता केवल इतनी है कि उपयुक्त बल की सहायता से शब्दों का स्वाभाविक उच्चारण करने में सरलता होती है। किन्तु कुछ भाषाएँ ऐसी भी हैं जिनमें बल-भेद से शब्द-भेद हो जाता है। उदाहरणार्थ -

अंग्रेजी - 'इम्पोर्ट (आयात) इम। पोर्ट (आयात करना)

'कॉन्डक्ट (आचरण) कॉन' डक्ट (संचालन करना)

वाक्य स्तर पर हिन्दी में भी बल का कार्य अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। वाक्य में जिस शब्द को यह बल प्राप्त होता है, अर्थ में भी उसी शब्द पर बल रहता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शब्द-स्तर पर मिलने वाला यह अतिरिक्त बल भी उसी वर्ण पर दिया जाता है। चूँकि वाक्य-स्तर पर मिलने वाला यह बल अतिरिक्त होता है, इसलिए शब्द-स्तर के बल से इसमें भेद **करना आवश्यक** है। निम्नलिखित वाक्यों से बल का यह कार्य स्पष्ट हो जायेगा -

1. 'मैंने पुस्तक देखी है। (मैंने देखी है, उसने नहीं)
2. मैंने। पुस्तक देखी है। (पुस्तक देखी है, पत्रिका नहीं)
3. मैंने पुस्तक। देखी है। (देखी है, पढ़ी नहीं)

यह आवश्यक नहीं है कि यह बल वाक्य में किसी-न-किसी शब्द में विद्यमान ही हो। यदि उक्त वाक्य का उच्चारण अतिरिक्त बल के बिना किया जाये तो एक भिन्न अर्थ प्राप्त होगा, जिसमें किसी शब्द-विशेष के अर्थ पर जोर नहीं होगा, बल्कि सीधा-सादा वर्णनात्मक वाक्य बन जाएगा।

3. स्वरतंत्रियों में होने वाली तनाव की मात्रा के अनुसार घोष की ऊँचाई या नीचाई की मात्रा होती है। यही आरोह-अवरोह **सुर** है। इसमें भी अगणित कोटियाँ हो सकती हैं लेकिन मात्रा और बल की भांति इसकी भी कुछ ही कोटियाँ निर्धारित कर लेना किसी भाषा के लिए पर्याप्त होता है। ऐसी प्रत्येक कोटि के अन्तर्गत एक-दूसरे से मिलती-जुलती सुर की अनेक स्थितियाँ समाहित रहती हैं। कई भाषाओं में सुर के तीन भेद करना पर्याप्त होता है। **उच्च सुर** में स्वरतंत्रियों के तनाव की मात्रा बढ़ती है और सुर का आरोह होता है। **नीच सुर** में स्वरतंत्रियों के तनाव की मात्रा घटती है और सुर का अवरोह होता है। **सम सुर** में स्वरतंत्रियों का तनाव अपरिवर्तित रहता है और सुर यथा स्थान रहता है।

सुर के आरोह-अवरोह की मात्रा के अनुसार उसके विभागों के सुर-स्तर निर्धाथ्रित किये जा सकते हैं और उन्हें 1, 2, 3 आदि अंकों से घोषित किया जा सकता है। सुर की निम्नतम स्थिति के लिए 1, अपेक्षाकृत उच्च स्थिति के लिए 2, और उच्चतर स्थिति के लिए 3 का प्रयोग संभव है। यह प्रक्रिया आवश्यकतानुसार घटाई या बढ़ाई जा सकती है।

वाक्य-स्तर पर कार्य करने वाला सुर **अनुतान** कहलाता है। अनुतान किसी शब्द का अर्थ नहीं बदलता; पूरे वाक्य के अर्थ में किसी भाव का योग कर देता है। अनुतान के निर्देश के लिए वाक्य के सुर-स्तरों के अतिरिक्त उसके **अन्त्यर** का उल्लेख करना होता है। वाक्य के अन्त की सुर-धारा का स्वरूप अन्त्यर कहलाता है। सुर के साथ-साथ बल का परिवर्तन भी इसमें होता है। अन्त्यर तीन प्रकार के माने जाते है - **अवरोही अन्त्यर** में घोष अत्यन्त शीघ्रता के साथ क्षीण होकर समाप्त हो जाता है; सुर और बल, दोनों ही तीव्र के साथ क्षीण हो जाते हैं। **आरोही अन्त्यर** में सुर झटके से क्षिप्रता के साथ थोड़ा-सा उठ जाता है; बल अपेक्षाकृत शीघ्रता के साथ समाप्त हो जाता है। यद्यपि उसका ह्रास अधिक स्पष्ट नहीं होता। **सम अन्त्यर** में सुर यथावत् सुरक्षित रहता है; अन्तिम वर्ण में कुछ दीर्घता आ जाती है और बल कुछ कम हो जाता है। इन तीनों के लिए क्रमशः लिपिचिह्नों का प्रयोग किया जा सकता है।

निम्नलिखित वाक्य में अनुतानों का भेद देखिए -

क) [2]राम भोपाल गया[1] ↓ (साधारण कथन)

ख) [2]राम भोपाल[3] गया[3] ↑ (प्रश्न)

ग) [2]राम भोपाल[4] गया[4] ↑ (विस्मय)

हैं। पामर (Palmer) ने इसके अन्तर्गत इन सभी विषयों को लिया है—१. ध्वनि-प्रकृति, २. मात्रा (Mora), ३. बलाघात (Stress), ४. सुर-लहर (Intonation), ५. ध्वनि विषयक अन्य प्रक्रियाएँ। पेई और गेनोर (M.A. Pei and Gaynor) आदि ने एक्सेंट (Accent) का प्रयोग केवल बलाघात के अर्थ में किया है। ब्लाख और ट्रेगर आदि ने एक्सेंट के अन्दर बलाघात (Stress) और सुर (Tone, Pitch) दोनों को लिया है। ब्लाख और ट्रेगर का मत अधिक प्रचलित है।

४.२२. (ग) बलाघात (Stress)

सामान्य बातचीत में यह देखा जाता है कि प्रत्येक शब्द और वाक्य पर समान रूप से बल नहीं दिया जाता है। कुछ ध्वनियों पर अधिक बल दिया जाता है और कुछ पर कम। जिन ध्वनियों पर अधिक बल दिया जाता है उन्हें बलाघातयुक्त कहते हैं। लिखित और उच्चरित भाषा में यह मुख्य अन्तर है। लिखित स्वरूप में बलाघात को स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं कर सकते हैं। उच्चरित भाषा में किसी भी ध्वनि पर विशेष बल दिया जा सकता है और वह बलाघात-युक्त हो सकती है। बलाघात मुख्य रूप से अक्षर-बलाघात के रूप में प्राप्त होता है। अक्षर और आक्षरिक के अध्याय में यह स्पष्ट किया गया है कि कोई भी स्वर आक्षरिक हो सकता है और कुछ व्यंजन भी आक्षरिक होते हैं। इन पर बलाघात हो सकता है। बलाघात में ध्वनि की प्रबलता मुख्य रूप से रहती है।

बलाघात के मुख्य रूप से दो भेद माने जाते हैं—शब्द बलाघात और वाक्य बलाघात।

१. शब्द बलाघात—शब्द बलाघात उसे कहते हैं जहाँ पर शब्द के किसी स्वर या अक्षर पर विशेष बल दिया जाता है। ऐसे स्वर या अक्षर को बलाघातयुक्त (Stressed) कहा जाता है और शेष ध्वनियों को बलाघातहीन (Unstressed) कहते हैं। अंग्रेजी बलाघात-प्रधान भाषा है। इसमें किस ध्वनि पर विशेष बल दिया जाए यह कोषग्रन्थों आदि में संकेत के द्वारा सूचित किया जाता है। एक ही शब्द बलाघात-भेद से संज्ञा या क्रिया हो सकता है। जैसे—Con'duct में प्रथम स्वर कन् पर बलाघात करेंगे तो यह संज्ञावाचक शब्द होगा। इसका अर्थ होगा—चरित्र या आचरण। Conduct' यदि दूसरे स्वर अर्थात् डक्ट पर बल देंगे तो यह क्रिया शब्द होगा और उसका अर्थ होगा व्यवहार करना, प्रबन्ध करना आदि। कोषग्रन्थों में बलाघातयुक्त ध्वनि के बाद बिन्दु या उदात्त (, ') का चिह्न लगाते हैं। भाषा-विज्ञान में बलाघातयुक्त ध्वनि के पूर्व उदात्त चिह्न (') का प्रयोग किया जाता है। जैसे—फोटोग्राफ में फो बलाघातयुक्त है, फोटोग्राफर में टो और फोटोग्राफिक में ग्रा बलाघातयुक्त है। ('Photograph, Pho'tographer, Photo'graphic)। फ्रेंच भाषा में बलाघात का बहुत प्रयोग होता है। बलाघातयुक्त ध्वनि के ऊपर उदात्त का चिह्न (') लगाया जाता है और उसका उच्चारण बलपूर्वक किया जाता है। जैसे—कम्यूनिके (Communique'), ब्रेआल (Bre'al)। संस्कृत का 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' प्रचलित उदाहरण है। इसमें बलाघात के कारण अर्थभेद हो जाता है। यदि इन्द्रशत्रु में इन्द्र पर बलाघात होगा तो यह बहुव्रीहि समास माना जायगा और इसका अर्थ होगा 'इन्द्र है शत्रु या नाशक [illegible]'। यदि शत्रु शब्द के अन्तिम स्वर पर बलाघात करेंगे तो तत्पुरुष समास होगा और इसका अर्थ होगा इन्द्र का शत्रु। इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर की अभिवृद्धि के लिए वृत्रासुर के पुरोहितों ने उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग किया। इसमें तत्पुरुष के स्थान पर बहुव्रीहि समास वाले बलाघात के कारण मन्त्र का अर्थ ही उल्टा हो गया और इन्द्र वृत्र का नाशक हो गया। ग्रीक भाषा में भी बलाघात की प्रधानता है।

२. वाक्य बलाघात—वाक्य बलाघात में वाक्य के किसी एक अंश पर बल दिया जाता है और वह अंश बलाघातयुक्त होता है। जिस अंश पर बल दिया जाता है उस अर्थ की मुख्यता रहती है। जैसे—मैं आज प्रयाग जाऊँगा। इस वाक्य में चार स्थानों पर बलाघात का प्रयोग किया जा सकता है और इसके आधार पर अर्थ में अन्तर हो जाएगा। १. मैं पर बल देने से अर्थ होगा—मैं ही, अन्य कोई नहीं। २. आज पर बल देने से अर्थ होगा आज ही जाऊँगा, कल नहीं। ३. प्रयाग पर बल देने से अर्थ होगा—प्रयाग ही जाऊँगा, अन्यत्र नहीं। ४. जाऊँगा पर बल देने से अर्थ होगा—मैं जाऊँगा ही, मुझे कोई रोक नहीं सकता। वाक्य बलाघात छोटे वाक्यों और बड़े वाक्यों, दोनों में होता है। बड़े वाक्यों में जहाँ किसी उपवाक्य पर बल दिया जाता है, वह उपवाक्य प्रमुख हो जाता है। इसको वाक्यांश बलाघात भी कह सकते हैं।

बलाघात का प्रभाव—शब्दों और वाक्यों पर बलाघात का निम्नलिखित रूप में प्रभाव पाया जाता है—

१. बलाघातयुक्त ध्वनियाँ अधिक प्रबल होती हैं, अतः अधिक सुदृढ़ होती हैं। उनमें परिवर्तन बहुत कम होता है। बलाघातहीन ध्वनियाँ निर्बल होती हैं। उनमें परिवर्तन अधिक होता है। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि में बलाघातहीन ध्वनियाँ निर्बल होकर लुप्त हो जाती हैं। संस्कृत में बलाघातयुक्त कृ धातु का कर् या कार् हो जाता है। जैसे—करण, कारक आदि। बलाघातहीन होने पर गुण या वृद्धि नहीं होती है। कहीं-कहीं पर संप्रसारण भी हो जाता है। जैसे—कृ-कृत, यज्-इष्ट, वच्-उक्ति। हिन्दी में अपर-और, द्वादश-बारह, शत-सौ।

२. बलाघातयुक्त ध्वनियाँ मांसपेशियों की दृढ़ता के कारण दृढ़ (Tense) कही जाती हैं और बलाघातहीन ध्वनियाँ शिथिल (Lax)।

३. बलाघातयुक्त ध्वनि पर यदि सुर है तो वह ऊँचा होता है।

४. बलाघातयुक्त ध्वनि की मात्रा कुछ दीर्घ हो जाती है, दीर्घ हो तो दीर्घतर।

५. बलाघातयुक्त व्यंजन द्वित्व या दीर्घ के रूप में सुनाई पड़ते हैं। बलाघात में यदि वायुवेग की अधिकता होगी तो अल्पप्राण को महाप्राण हो जाता है और यदि उच्चारणावयव की दृढ़ता होती है तो व्यंजन को द्वित्व हो जाता है। संघर्षी और महाप्राण व्यंजन प्रायः द्वित्व होते हैं।

६. बलाघात में वायुवेग की प्रबलता होती है, अतः अल्पप्राण ध्वनि महाप्राण के तुल्य सुनाई पड़ती है। बलाघातहीन ध्वनि वायुप्रवाह की कमी के कारण महाप्राण होने पर भी अल्पप्राण से सुनाई पड़ती है।

बलाघातयुक्त ध्वनि अधिक शक्तिशाली, मुखर और श्रवणीय होती है। बलाघात-हीन ध्वनि की स्थिति इसके विपरीत होती है।

बलाघात का संकेत—बलाघात को दो प्रकार से सूचित किया जाता है। (१) बलाघातयुक्त ध्वनि के पहले ऊपर एक खड़ी लकीर या उदात्त का चिह्न (') लग दिया जाता है। कोषग्रन्थों में बलाघातयुक्त ध्वनि के बाद बिन्दु या उदात्त (˙, ') लगाया जाता है। (२) यदि एक से अधिक बलाघात हों तो एक शब्द में मुख्य बलाघात का चिह्न लगाया जाता है और गौण बलाघात को चिह्नरहित छोड़ देते हैं। यदि दूसरी ध्वनि पर भी बलाघात दिखाना आवश्यक होता है तो उसके पूर्व भी छोटी खड़ी लकीर लगाई जाती है।

४.२२. (घ) स्वर या सुर (Tone, Pitch)

स्वर को सुर भी कहा जाता है। स्वर का सम्बन्ध स्वरतंत्रियों के कम्पन की आवृत्ति (Frequency of vibration) पर निर्भर रहता है। यह कम्पन जितना अधिक होगा स्वर उतना ही उच्च होगा और कम्पन जितना कम होगा उतना ही स्वर निम्न होगा। स्वरतंत्रियों के तनाव या विस्तार से कम्पन की आवृत्ति का साक्षात् सम्बन्ध है। जब कम्पन की आवृत्ति अधिक होती है तो तन्त्रियों में तनाव उत्पन्न होता है। जब कम्पन की आवृत्ति कम होती है तो स्वरतंत्रियाँ ढीली रहती हैं। संगीतशास्त्र में अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुसार स्वर की उच्चता और निम्नता को बढ़ाया और घटाया जा सकता है। ध्वनियों के विवेचन में घोष और अघोष ध्वनियों का उल्लेख किया गया है। इनमें से अघोष ध्वनियों के उच्चारण में स्वरतंत्रियों में कम्पन नहीं होता है, अतः इनमें सुर की संभावना नहीं रहती है। सुर मुख्यतया घोष ध्वनियों पर निर्भर रहता है, क्योंकि इनके उच्चारण में स्वरतंत्रियों में कम्पन होता है।

स्वर का सम्बन्ध स्वरतंत्रियों से है। स्वरतंत्रियों की उपमा तार वाले बाजों—सितार, वीणा, वायलिन आदि से दी जा सकती है। जिस प्रकार तारों को कस देने से सितार आदि में स्वर ऊँचा हो जायगा और तारों को ढीला कर देने पर स्वर निम्न हो जायगा। इसी प्रकार स्वरतंत्रियों में तनाव पैदा होने पर स्वर उच्च हो जाता है और तनाव ढीला होने पर स्वर निम्न हो जाता है। अतएव संगीतशास्त्र में स्वरतंत्रियों को कड़ा और नरम रखकर अनेक प्रकार के सुर उत्पन्न किए जाते हैं। सुरों के उतार-चढ़ाव के लिए स्वरतंत्रियों पर अधिकार करना आवश्यक होता है।

स्वरतंत्रियों के तनाव के अतिरिक्त उनका आकार भी महत्त्वपूर्ण है। स्वरतंत्रियाँ जितनी छोटी होती हैं, उतना ही स्वर उच्च होता है। स्त्रियों और बालकों की स्वरतंत्रियों का आकार छोटा होता है, अतः पुरुषों की अपेक्षा उनका स्वर उच्च होता है।

सुर के दो भेद—जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति बोलचाल में एक ही प्रकार के बलाघात का प्रयोग नहीं करता, उसी प्रकार व्यवहार में प्रयुक्त वाक्यों में सुर भी एक-सा नहीं होता है। क्रोध, आवेश, हर्षातिरेक, भय आदि में स्वर उच्च हो जाता है और सामान्य स्थिति में वह साधारण रहता है। सुर की उच्चता को आरोह कहते हैं और उसके उतार या

निम्नता को अवरोह कहते हैं। संगीत में आरोह की स्थिति में आवाज ऊँची की जाती है और अवरोह की स्थिति में निम्न।

स्वर के तीन भेद—संस्कृत में स्वरों के तीन भेद किए गए हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। आधुनिक भाषाशास्त्र में सामान्यतया तीन भेद क्रिये जाते हैं—उच्च (High), मध्य या सम (Mid या Level) और निम्न (Low)। प्रो० हाल आदि ने चार भेद का भी उल्लेख किया है और उन्होंने इनके नाम दिए हैं—Low (निम्न), Norm, Low-mid (निम्नमध्य), Mid (मध्य) और High (उच्च)। ग्रीक भाषा में तीन स्वर प्रचलित हैं—एक्यूट (Acute), ग्रेव (Grave) और सरकम्प्लेक्स (Circumflex)। एक्यूट को उदात्त की तरह तिरछी लकीर से सूचित किया जाता है। ग्रेव ' को स्वतंत्र स्वरित की तरह दायीं ओर झुकी हुई लकीर से सूचित करते हैं। स्वतंत्र को (^) चिह्न से सूचित करते हैं। अधिकांश विद्वान् उदात्त के लिए एक्यूट को, स्वरित के लिए ग्रेव को और अनुदात्त के लिए सरकम्प्लेक्स के चिह्न को प्रयुक्त करते हैं। वे इनका प्रयोग समानार्थक के रूप में करते हैं। वस्तुतः संस्कृत और ग्रीक के स्वर परस्पर मिलते हुए होने पर भी समानार्थक नहीं हैं।

१. **उदात्त**—पाणिनि ने उदात्त का लक्षण दिया है, **उच्चैरुदात्तः (१-२-२९)** जो स्वर ऊँचा या उठा हुआ होता है, उसे उदात्त कहते हैं। उदात्त का अर्थ है—उठा हुआ, ऊँचा या श्रेष्ठ। संस्कृत का एक सामान्य नियम है कि प्रत्येक पद या शब्द में सामान्यतया एक स्वर उदात्त होता है, शेष सभी अनुदात्त होते हैं। (**अनुदात्तं पदमेकवर्जम्, ६-१-१५८**) कुछ समस्त पदों में दो उदात्त भी होते हैं। कुछ अव्ययनिपात, सम्बोधन और क्रियापद आदि ऐसे भी हैं जिनमें एक भी उदात्त नहीं रहता है। ऐसे शब्दों की संख्या बहुत कम है। पतंजलि ने उदात्त के लिए तीन बातों का संकेत किया है—(१) आयाम—ध्वनि का आरोह, (२) दारुणता—स्वरतंत्री में तनाव, (३) अणुता—स्वरतंत्री में संकोच या संवृतता। (**आयामो दारुण्यम् अणुता स्वरस्य इति उच्चैःकराणि शब्दस्य—महाभाष्य १-२-२९**)

२. **अनुदात्त**—अनुदात्त का अर्थ है निम्न या नीचा स्वर। (**नीचैरनुदात्तः, १-२-३०**) यह सदा उदात्त से नीचा होता है। वेद में उदात्त से पहले अनिवार्य रूप से अनुदात्त स्वर होता है। इसका अभिप्राय यह है कि निम्न स्वर से उच्च स्वर की ओर अग्रसर होते हैं। पतंजलि ने स्वर के सात भेद माने हैं—उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितस्थ उदात्त, एकश्रुति। इनमें अनुदात्ततर अनुदात्त से भी निम्न कोटि का है।

३. **स्वरित**—स्वरित उस सम ध्वनि को कहते हैं, जिसमें उदात्त और अनुदात्त दोनों के गुणों का समन्वय रहता है। (**समाहारः स्वरितः, १-२-३१**) पाणिनि के **तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् (१-२-३२)** इस कथन से ज्ञात होता है कि स्वरित का प्रारम्भिक अंश उदात्त से भी कुछ उच्च होकर अवरोही होता है। इसमें उतार और चढ़ाव या आरोह और अवरोह का समन्वय रहता है। इसलिए इसको स्वरित कहते हैं। वेद में स्वरित दो प्रकार का है—(१) पराधीन या उदात्तमूलक। उदात्त के बाद अनुदात्त का उच्चारण स्वरित या मध्य कोटि का होता है। उसके बाद वाले अनुदात्त अनुदात्त ही रहते

हैं। स्वरित के बाद वाले अनुदात्तों पर अनुदात्त का चिह्न नहीं लगाया जाता है। उन्हें स्वरचिह्नरहित छोड़ दिया जाता है। (२) स्वतंत्रस्वरित—जहाँ पर यण् सन्धि आदि के द्वारा उदात्त लुप्त हो जाता है, वहाँ पर उदात्त के आगे वाले स्वर को स्वरित हो जाता है। जैसे—क्वं, स्वंः आदि।

संस्कृत में उदात्त स्वर रिक्त रहता है, कोई चिह्न उस पर नहीं लगाया जाता है। अनुदात्त के नीचे पड़ी लकीर दी जाती है। स्वरित में शब्द के ऊपर खड़ी लकीर दी जाती है।

सुर-लहर (Intonation)—शब्दों या वाक्यों में आरोह और अवरोह के क्रम को सुर-लहर कहते हैं। प्रत्येक वाक्य में स्वरलहर आदि से अन्त तक विद्यमान रहती है। तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा यह ज्ञात किया गया है कि अंग्रेजी में स्वर-लहर पानी की लहर के तुल्य क्रमिक उतार-चढ़ाव वाली होती है। फ्रेंच-भाषा में लगातार चढ़ाव जाता है और अन्तिम ध्वनि पर सहसा उतार देखा जाता है। सुर केवल घोष ध्वनियों में मुख्यतया रहता है। अघोष ध्वनियाँ सहगामी के तुल्य रहती हैं। सामान्यतया भाषा में घोष ध्वनियों की अपेक्षा अघोष ध्वनियाँ लगभग एक-चौथाई प्रयुक्त होती हैं।

मुख्यतया सुरलहर के दो भेद किए जाते हैं—शब्द-सुरलहर और वाक्य-सुरलहर। तीन भाषाओं में ये दोनों सुरलहरें सार्थक होती हैं। संस्कृत, हिन्दी आदि अतान भाषाओं में केवल वाक्य-सुरलहर काकु या व्यंग्य आदि के रूप में प्रयुक्त होता है।

४.२२. (ङ) संगम या सन्धि (Juncture)

संबद्ध वाक्य में एक के बाद दूसरी ध्वनि आती जाती है। वक्ता एक ध्वनि को पूरा करके दूसरी ध्वनि का उच्चारण करता है। एक ध्वनि के बाद दूसरी ध्वनि पर जाना दो प्रकार से होता है—(१) अबाधगति से जाना और (२) सबाध या कुछ विराम के साथ जाना। जैसे—वरदे, वर दे; मुखरता, मुख रता; सारसिका-सा रसिका। इन स्थानों पर ज्ञात होता है कि ध्वनि एक होने पर भी अर्थों में भेद है। अर्थ के अनुसार शब्दों को तोड़कर बोला जाता है। जहाँ पर अबाध गति से ध्वनिसंक्रम या एक ध्वनि से दूसरी ध्वनि पर जाना होता है, वह प्रथम भेद है। जैसे—वरदे-वर देने वाली, स्त्रीलिंग सम्बोधन। मुखरता—ध्वनि की प्रधानता। सारसिका—सारस की स्त्री। दूसरे भेद में इन शब्दों के बीच में थोड़ा विराम कर देने से अर्थभेद हो जाता है। जैसे—वर दे—तू वरदान दे, मुख रता-मुख में प्रेम रखनेवाली, सा रसिका—वह रसीली स्त्री। संस्कृत साहित्य में श्लेष के प्रसंग में इस विषय का विस्तृत वर्णन है। जैसे—अभंग-श्लेष, सभंग-श्लेष, सभंगाभंग-श्लेष। पाश्चात्य विद्वानों ने इसके अनेक भेद और उपभेद किये हैं। हिन्दी में इसको योजक, विवृति और मौन योजक भी कहते हैं।

*

इकाई – घ

का भारत में वर्चस्व था। अंग्रेजों के आने के बाद वह स्थान अंग्रेजी ने लिया। अतः भाषा अपने आप में श्रेष्ठ या निम्न नहीं होती। राजनीतिक/आर्थिक/धार्मिक कारण किसी भी भाषा को अधिक आदरणीय/उपयोगी बना सकते हैं।

कुछ लोग मानते हैं कि "भाषा में अनेक ऐसे शब्द/सूत्र होते हैं, जिनमें जादुई या आध्यात्मिक शक्ति होती है।' यह धारणा समुदाय में धार्मिक संस्कारों के प्रचार-प्रसार, रोगों के निवारण तथा अनेक अन्धविश्वासों की देन है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो किसी शब्द में ऐसी कोई आध्यात्मिक या जादुई शक्ति नहीं होती। ऐसी धारणाएँ सामाजिक अन्धविश्वासों और वहमों की द्योतक हैं।

(iii) प्रकार्य

विचार संप्रेषण भाषा का प्रमुख कार्य है। इसके अन्य प्रकार्य इस प्रकार हैं -

किसी सुन्दर भवन, चित्र आदि को देखकर हमारे मुँह से अनायास ही 'वाह! क्या बात है', 'बहुत सुन्दर' आदि शाब्दिक अभिव्यक्तियाँ निकल आती हैं जो किसी श्रोता के श्रवण/ग्रहण के लिए नहीं होतीं। इसी प्रकार हम गुस्से/उलझन में नकारात्मक अभिव्यक्तियाँ 'छै', 'छत्त' आदि कह जाते हैं। अपशब्द और कसमें भी प्रायः इसी प्रकार उपयोग में लाये जाते हैं और भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए कविता भी ऐसे ही बुनी जाती है। भाषा के इस कार्य को **भावात्मक अभिव्यक्ति** कहा जाता है।

किसी व्यक्ति/अधिकारी को मिलते समय हम 'नमस्कार' कहकर उनका अभिवादन करते हैं। 'क्या हाल है?' 'कैसे हैं आप?' आदि वाक्य कोई संदेश नहीं देते, बल्कि इनके उपयोग से हम परस्पर संवाद स्थापित करने की भूमिका बना पाते हैं। भाषा के इस सामाजिक कार्य को ब्रैनिस्लॉ मैलिनोवस्कि ने **'फैटिक कम्यूनियन'** की संज्ञा दी है। इस संदेशविहीन संवाद से हम एक-दूसरे के प्रति मित्रता का भाव प्रकट करते हैं।

हवन, श्राद्ध, तर्पण करते समय किन्हीं विशेष शब्दों/वाक्यों का उपयोग किया जाता है। 'स्वाहा', 'तर्पयामि' आदि शब्दों से, समझा जाता है, अलौकिक शक्तियों को नियंत्रित/प्रसन्न किया जाता है। मन्त्री किसी भवन का नामकरण करता है; संगोष्ठी/सम्मेलन को आरम्भ करने की अनुमति देता है; पादरी नवजात शिशु का नामकरण करता है; हम किस से कोई वादा करते हैं, कटघरे में खड़ा दोषारोपी 'सच बोलने की शपथ लेता है' आदि ऐसी अभिव्यक्तियाँ भाषा का **निष्पादन** कार्य कहलाती हैं।

तथ्यों को भविष्य के लिए रेकार्ड करने का कार्य भी एक विशिष्ट वर्ग में रखा जाता है। डायरी लेखक अपने अनुभव, प्रतिक्रियाएँ डायरी में लिखता रहता है। उनका उपयोग कौन, कब और कैसे करेगा, वह स्वयं नहीं जानता। इन तथ्यों को रेकार्ड करने की प्रक्रिया में कोई संवाद नहीं होता। ऐतिहासिक, भौगोलिक, व्यापार-लेखा, वैज्ञानिक रिपोर्ट, जन-सामान्य डेटा-बैंक आदि जैसे रेकार्ड ऐसी कोटि में आते हैं और यह भाषा का **'तथ्यों को रेकार्ड'** करने का कार्य करता है।

 21

5. अपने विचारों को तर्कसम्मत और क्रमबद्ध करने के लिए हम अपने-आप से ही वार्ता करते हैं। लेखक अपने विचारों को कागज पर लिखता है, फिर उनकी भाषा-शैली संवारने का काम करता है। रूसी मनोविज्ञानी लेव व्यगोत्स्कि का मत है कि 'आन्तरिक वाक्' भाषा का मानसिक उपयोग है जिससे हम विचारों को क्रमबद्ध कर लेते हैं। इस प्रकार से भाषा **'विचारों के उपकरण'** का कार्य करती है।
6. राजनेताओं की रैलियों में, क्रिकेट/फुटबॉल मैच के मैदानों में जनसमूह/दर्शकों के नारे, शाबाशी, प्रोत्साहन आदि भीड़ में उपस्थित व्यक्तियों को एक पहचान प्रदान करते हैं। आप अमुक राजनेता के प्रशंसक हैं; अमुक टीम के समर्थक हैं आदि। भाषा हमारी क्षेत्रीय पहचान, सामाजिक पृष्ठभूमि, शिक्षा, व्यवसाय, आयु, लिंग आदि का द्योतक भी होती है। इस प्रकार भाषा हमें एक **पहचान** प्रदान करने का कार्य भी करती है।

(iv) परिभाषा (भाषा)

विद्वानों ने समय-समय पर भाषा को परिभाषित करने के प्रयास किये हैं। कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं -

डॉ. देवीशंकर द्विवेदी, "भाषा यादृच्छिक वाक्यप्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके माध्यम से मानव समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।"

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, "उच्चरित स्वन-संकेतों की सहायता से भाव या विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति भाषा है।"

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, "विभिन्न अर्थों में सांकेतिक शब्द-समूह ही भाषा है जिसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते हैं।"

डॉ. भोलानाथ तिवारी, "भाषा उच्चारण अवयवों से उच्चरित मूलतः यादृच्छिक स्वन प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा किसी भाषा समाज के लोग आपस में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।"

पं. कामता प्रसाद गुरु, "भाषा वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भली-भाँति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार आप स्पष्टतया समझ सकते हैं।"

श्री नलिनीमोहन सान्याल, "अपने स्वर को विविध प्रकार से संयुक्त तथा विन्यस्त करने से, उसके जो-जो आकार होते हैं, उनका संकेतों के सदृश व्यवहार कर अपनी चिन्ताओं को तथा मनोभावों को जिस साधन से हम प्रकाशित करते हैं, उस साधन को हम भाषा कहते हैं।"

ब्लॉक और ट्रेगर, "A language is a system of arbitrary vocal symbols by means of which a social group co-operates."

हेनरी स्वीट, "Language may be defined as expression of thoughts by means of speech-sound."

उपर्युक्त परिभाषाओं में भाषा को विचार-विनिमय का माध्यम, सामाजिक संपदा, मनोवैज्ञानिक व्यवस्था या यादृच्छिक वाग्प्रतीकों का व्यवस्थित ढाँचा आदि माना गया है। भाषा उन सभी को सम्मिलित करने वाली एक नियमबद्ध व्यवस्था है, जिस का विस्तार, पहुँच और दखल मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और कार्य में हर पल रहता है।

(v) अभिलक्षण

1. मौखिक-श्रव्य सरणि (Vocal auditory channel) - मनुष्य अपने भाव/संदेश स्वन रूप में श्रोता/ग्राहक तक पहुँचाता है। भाषा का लिखित रूप स्वन पर ही आधारित होता है। भाषा के लिखित रूप को अपनाने वाला व्यक्ति उसका उच्चरित रूप अवश्य जानता है।

समान भाषिक संस्कारों में पले-ढले होने के कारण वक्ता अपनी वाणी से जो अर्थ संप्रेषित करना चाहता है, श्रोता, वक्ता की वाणी को सुन कर, वही अर्थ ग्रहण करता है। वक्ता और श्रोता में मानसिक धरातल की जितनी अधिक समानता होती है, सम्प्रेषण उतना ही अधिक सफल होता है। अर्थों का सम्प्रेषण तो हाथों, आँखों, मुख-मुद्रा के माध्यम से भी हो सकता है, किन्तु ये आंगिक संकेत सभी अर्थों की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। भाषा वाच्य-स्वनों की एक सफल एवं विकासोन्मुख व्यवस्था है जिसके माध्यम से सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों एवं विचारों का सम्प्रेषण सम्भव होता है।

2. यादृच्छिकता - भाषिक व्यवस्था यादृच्छिकता है। शब्दों और अर्थों में कोई नैसर्गिक या नित्य सम्बन्ध नहीं है तथा न ही स्वनों/शब्दों और उनके लिपि चिह्नों में। किसी समय में कुछ मनुष्यों ने जिन वस्तुओं, व्यक्तियों, भावों, विचारों के जो नाम रख दिये, वे ही कालान्तर में प्रचलित हो गये। नये आविष्कारों से नयी वस्तुएँ सामने आती हैं, उनके नये नाम रखे जाते हैं और वे नाम इतने नैसर्गिक प्रतीत होते हैं कि नाम को वस्तु से और वस्तु को नाम से अलग करना दुष्कर प्रतीत होता है। नये अर्थों के लिए नये शब्द निरन्तर आते रहते हैं। इससे भाषा के शब्द-भण्डार में वृद्धि होती है।

प्रत्येक भाषा में वस्तुओं/क्रियाओं आदि के लिए विशिष्ट स्वतंत्र संकल्पनाएँ होती हैं। स्वन की इस संकल्पना से वस्तु या भाव को कोई भौतिक सम्बन्ध नहीं होता है। इसीलिए एक संकल्पना के लिए एक भाषा में एक स्वनक्रम, तो दूसरी भाषा में भिन्न स्वनक्रम होता है; उदाहरणार्थ -

टहनी	-	हिन्दी
ब्रान्च	-	अंग्रेजी
लंग	-	कशमीरी

3. सृजनात्मकता - प्रत्येक भाषा शब्द-निर्माण में कुछ निश्चित स्वनों का उपयोग करती है। इसीलिए किसी भी भाषा की वर्णमाला तैयार करना सम्भव होता है। इसी प्रकार हर भाषा का अपना एक शब्द-भण्डार होता है, जिसे हम शब्द-कोशों में संगृहीत कर सकते हैं। परन्तु किसी भी भाषा में वाक्यों की संख्या को निर्धारित नहीं किया जा

सकता - (वाक्यों के कोश बन ही नहीं सकते) - क्योंकि हम प्रतिपल नये वाक्यों का निर्माण करते चले जाते हैं; पहले कभी न सुने वाक्य सरलता से समझते हैं; लगातार नये-नये वाक्यों की संरचना करते रहते हैं। यदि हम किसी वक्ता का भाषण एक घण्टे तक सुन लें और बाद में किसी दूसरे व्यक्ति को वही भाषण सुनाने की चेष्टा करें तो हमारे वाक्य मूल वक्ता के वाक्यों से अलग, बिल्कुल अलग, नवीन वाक्य होंगे, परन्तु तथ्य वही-के-वही रहेंगे; यही भाषा की सृजनात्मकता है।

4. पारस्परिकता/विनिमयता (Interchangeability) - भाषा पैतृक सम्पत्ति नहीं है। मनुष्य जिस समाज तथा परिवेश में रहता है, उसी की भाषा सीखता है। यदि दिल्ली में जन्मा कोई शिशु रूसी परिवार के साथ मास्को में रहने लग जाए तो वह रूसी भाषा ही सीखेगा, हिन्दी नहीं। इससे स्पष्ट है कि भाषा पैतृक या व्यक्तिगत संपत्ति नहीं है।

विविक्तता = ?

5. विविक्तता (Discreteness) - मानव भाषा में जिन स्वनों का प्रयोग किया जाता है, उनमें सामान्य रूप से अविच्छिन्न प्रवाह दिखाई देता है। भाषा के स्वन-प्रवाह पर सूक्ष्म चिन्तन से उसमें कई इकाइयाँ सामने आती हैं। स्वन-प्रवाह में यदि एकाधिक वाक्यों का अस्तित्व मिलता है, वाक्य में एकाधिक शब्द मिलते हैं, तो शब्द में एकाधिक स्वनिम मिलते हैं। इस प्रकार मानव की भाषा में विभिन्न इकाइयों की विवक्त स्थिति का अभिलक्षण दिखाई देता है।

6. द्वित्व अभिरचना (Duality of Patterns) - मानव भाषा के विश्लेषण से उसमें एक साथ दो इकाइयों की भूमिका का ज्ञान होता है। इसमें पहली इकाई यदि स्वन से सम्बन्धित होती है; तो दूसरी अर्थ से। पहली इकाई स्वन-स्तर की है जिसे स्वनिम कहते हैं; दूसरी इकाई अर्थभेद उत्पन्न करती है। जैसे- 'कार' और 'तार' में 'क्' और 'त्' स्वतन्त्र स्वनिम हैं (स्वनिम स्तर पर), परन्तु यही अर्थ स्वन-स्तर पर अर्थ-भेद उत्पन्न करते हैं।

7. सांस्कृतिक हस्तान्तरण - भाषा एक भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिवेश में विकसित होती है। अतः उसमें एक भू-भाग की प्रकृति और संस्कृति समाहित रहती है। उदाहरण के लिए, वैदिक काल से लेकर वर्तमान युग तक की भारतीय संस्कृति की पूरी यात्रा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, खड़ी-बोली आदि के भाषिक माध्यम से ही सम्पन्न हुई है। यों तो संस्कृति ऐतिहासिक स्मारकों, भवनों, पूजा-स्थलों, संग्रहालयों आदि के माध्यम से भी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है, किन्तु भाषा ही सांस्कृतिक हस्तान्तरण का सर्वाधिक शक्तिशाली माध्यम होती है।

8. विशेषज्ञता - सामान्य व्यक्ति का कार्य भाषा के सामान्य बोलचाल के रूप से चल जाता है। किन्तु विशेष ज्ञान के लिए भाषा के विशेष स्तर की आवश्यकता होती है। विज्ञान की भाषा सूत्रात्मक होती है। गणित में तो भाषा चिह्नों, रेखाओं, समीकरणों का रूप ले लेती है। दर्शन की भाषा नितान्त अमूर्त और वैचारिक होती है। साहित्य

की भाषा में बिम्ब-विधान पर बल रहता है। इस प्रकार ज्ञान के विशिष्ट स्वरूप के अनुरूप भाषा के भी विशिष्ट रूपों का अपयोग किया जाता है।

9. स्थायित्व - मानव की अच्चरित भाषा को लिपि का सुदृढ़ आधार मिलने पर वह स्थान और समय की दूरी को पार करने की शक्ति पा लेती है। कोई भी संदेश लिखकर देश-विदेश भेजा जा सकता है। लिपिबद्ध विचार सुरक्षित रहने पर वर्षों बाद भी पढ़ा जा सकता है। आधुनिक टेक्नॉलजी के कारण अब कैसेट सी-डी में वाणी रिकार्ड की जा सकती है और दूर-दूर देशों में भेजी जा सकती है।

10. विस्थापन (Displacement) - मानव भाषा में भूत, वर्तमान तथा भविष्य, तीनों कालों के विचारों का सम्प्रेषण सम्भव है, जबकि मनुष्येतर भाषा में वर्तमान विचारों का सम्प्रेषण ही सम्भव होता है, । मानव भाषा में यथार्थ के साथ काल्पनिक विचारों की भी अभिव्यक्ति सम्भव है।

11. अधिगमता (Learnability) - मानव भाषा अर्जन और अभ्यास-प्रक्रिया पर आधारित होती है। मनुष्य यदि सहज रूप से मातृभाषा सीख लेता है, तो प्रयत्न करके दूसरी भाषा को भी सीख सकता है। इससे भी यह स्पष्ट है कि भाषा पैतृक संपत्ति नहीं है।

(vi) विविध रूप

भिन्न-भिन्न देशों में विभिन्न भाषाएँ व्यवहृत होती हैं, किन्तु सबका मूल लक्ष्य वैचारिक आदान- प्रदान है। भाषा क्षेत्र, जाति, धर्म, व्यवसाय आदि के आधार पर विभिन्न रूप ग्रहण कर लेती है। जो भाषा शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकृति पा जाती है, उसका व्यापक स्तर पर विकास होता है। इसी प्रकार सरकारी कार्यालयों में प्रचलित भाषा विशेष प्रगति करती है। यहाँ हम भाषा के विविध रूपों पर विचार करेंगे -

1. व्यक्तिगत बोली/अनुली (Idiolect) - चार्ल्स एफ0 हॉकेट ने व्यक्ति- बोली को परिभाषित करते हुए लिखा है: 'किसी एक व्यक्ति की निश्चित समय की बोलने की आदतों का समग्र योगफल व्यक्ति- बोली कहलाता है।' एक व्यक्ति एक से अधिक बोलियाँ भी बोल सकता है। इस प्रकार उसकी दो या अधिक 'व्यक्ति-बोली' भी हो सकती हैं। यह भाषा का सबसे सीमित रूप है। एक ही जगह रहने वाले व्यक्ति एक ही भाषा को अपने विशिष्ट-व्यक्तिगत रूप में बोलते हैं। अध्यापक, वकील, दुकानदार, मजदूर आदि की भाषा में भिन्नता स्वाभाविक है। प्रत्येक व्यक्ति की स्वन, सुर, बलाघात, उच्चारण की निजि विशेषता होती है, जिसके कारण वह अंधेरे में बोलता हुआ भी अपनी बोली के वैशिष्ट्य से पहचाना जाता है। 'व्यक्ति-बोली' ही समष्टि रूप में पूरे क्षेत्र की उपबोली या बोली का रूप ग्रहण करती है।

2. उपबोली (subdialect) - किसी विशाल क्षेत्र में बोली जाने वाली बोली की अपक्षेत्रों के आधार पर अनेक अपबोलियाँ हो सकती है। भोजपुरी एक विशाल भू-भाग में बोली जाती है किन्तु गोरखपुरी, काशिका आदि इसकी उपबोलियाँ कहलायेंगी। इस प्रकार छोटे-छोटे उपक्षेत्रों में रहने वाले लोगों द्वारा बोली जाने वाली स्थानीय बोली उपबोली

कहलाती है। विशेष सीमित क्षेत्र में रहने वाले लोगों द्वारा बोली जाने वाली स्थानीय बोली उपबोली कहलाती है। उपबोली में विशेष सीमित क्षेत्र में रहने वाले लोगों के वाग्व्यवहार से सम्बन्धित उच्चारण, सुर, बलाघात आदि की सारी विशेषताएँ समाहित रहती हैं, जिनके आधार पर यह पता लग जाता है कि वक्ता बनारस का रहने वाला है या आरा का।

3. बोली (Dialect) - बोली एक अपेक्षाकृत व्यापक क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है। बोली के व्यवहार- क्षेत्र में सम्मिलित उपक्षेत्रों में उस बोली की अनेक उपबोलियाँ बोली जाती हैं, जिनकी मूल संरचना मुख्य बोली से ही मेल खाती है, किन्तु उपक्षेत्रीय रंगत या प्रभाव के कारण वे अपनी-अपनी पृथक् पहचान भी रखती हैं। विभिन्न उपबोलियाँ बोलने वाले व्यक्ति मुख्य बोली को भली प्रकार से समझ लेते हैं, क्योंकि उनकी अपबोली मुख्य बोली का ही स्थानीय संस्करण होती है तथा उसमें वाक्य-रचना, उच्चारण, बलाघात आदि की दृष्टि से मुख्य बोली से गहरी निकटता होती है। बोली के संरचनागत और उच्चारण सम्बन्धी संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि वे मानक भाषा के शिक्षण में बाधक बनते हैं। जो छात्र सुदूरवर्ती ग्रामीण अंचलों से शहर में शिक्षा प्राप्त करने आते हैं, वे मानक भाषा के शब्दों का सही उच्चारण सरलता से नहीं सीख पाते। वे एम. ए. करने पर भी सहर, कासी आदि ही बोलते हैं। बोली के संस्कारों में आबद्ध होने के कारण वे वर्त्तनी की अशुद्धियाँ भी करते हैं।

4. भाषा (Language) - बोली का ही विकसित और परिष्कृत रूप भाषा कहलाता है। जब कोई बोली राजनीतिक, समाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक कारणों से समर्थन और पोषण पाने लगती है, तो धीरे-धीरे वह मानकीकरण की दिशा में अग्रसर होने लगती है। मानकीकरण की प्रक्रिया से वह परिमार्जित होने लगती है। किसी क्षेत्रीय बोली से विकसित सामान्य भाषा के परिष्कृत रूप को ही भाषा कहते हैं। कोई भी बोली किन्हीं राजनीतिक, सामाजिक आदि कारणों से भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो सकती है, किन्तु ये कारण सदैव भाषेतर तथा भाषाविज्ञानेतर ही होते हैं। कृष्ण-भक्ति आन्दोलन से सम्बद्ध होने के कारण ब्रजबोली विकसित होकर ब्रजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो गयी। इस प्रकार रामभक्ति आन्दोलन से पोषित अवधी-भाषा बन गई। किन्तु उक्त आन्दोलनों के समाप्त होते ही इन दोनों भाषाओं में स्तरीय साहित्य रचना धीरे-धीरे बन्द होती चली गई और अब वे पुनः बोली बन कर रह गयी। दिल्ली, मेरठ, सोनीपत क्षेत्र में बोली जाने वाली खड़ीबोली ब्रिटिश काल से पहले ही अन्तरक्षेत्रीय संप्रेषण का माध्यम बन गई थी और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त संवैधानिक रूप से राष्ट्रभाषा और राजभाषा का दर्जा पा गयी।

भाषा के व्यवहार-क्षेत्र के भीतर कई बोलियों और उपबोलियों के छोटे-छोटे क्षेत्र समाहित रहते है। भाषा का क्षेत्र कई राज्यों तक भी व्याप्त हो सकता है। उदाहरणार्थ, हिन्दी भाषा बिहार, झारखण्ड, उत्तरप्रदेश, उत्तराखण्ड, दिल्ली, हरियाणा, राजस्थान, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, सरीखे राज्यों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में समेटे हुए है।

5. *मानक भाषा* (**Standard Language**) **-** जब कोई बोली राजनीतिक, *धार्मिक, सामाजिक कारणों से* एक व्यापक क्षेत्र के शैक्षिक, राजकीय, समाजिक कार्यों की *सर्वस्वीकृत भाषा बन जाती है*, तो वह 'मानक भाषा' या 'परिनिष्ठित भाषा' कहलाती है उसी भाषा में सभी ज्ञान-क्षेत्रों की पारिभाषिक शब्दावली निर्धारित और प्रकाशित होती है मानक भाषा साहित्यिक, सांस्कृतिक दृष्टि से भी सम्पन्न होती है। राज्य से प्राप्त संरक्षण के कारण मानक भाषा शिक्षण, साहित्य रचना, संचार माध्यमों, धार्मिक सम्मेलनों तथा ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, कला के विविध मंचों की भाषा बन जाती है।

6. राष्ट्रभाषा (National Language) - जिस भाषा का किसी देश के सभी क्षेत्रों में न्यूनाधिक अंशों में उपयोग होता है, उस भाषा को राष्ट्रभाषा कहते हैं। राष्ट्रभाषा का पद उसी भाषा को मिल पाता है, जिससे राष्ट्र के सभी क्षेत्रों में कुछ लोग परिचित हों तथा उसमें भावाभिव्यक्ति कर सकते हों। बंगाली, तमिल, गुजराती आदि भाषा-क्षेत्रों में लगभग हर बस्ती में हिन्दी की न्यूनाधिक जानकारी रखने वाले कुछ व्यक्ति अवश्य मिलेंगे राष्ट्रभाषा का सम्बन्ध पूरे राष्ट्र से होता है। राष्ट्रभाषा राष्ट्र को एक सूत्र में बांधने का सबसे माध्यम है। पूरे देश में संप्रेषण का साधन होने के कारण इसे **सम्पर्क भाषा** भी कह सकते हैं।

7. राजभाषा (Official Language) - जिस भाषा में राज्य का प्रशासनिक कार्य होता है, उसे राजभाषा कहते हैं। राजभाषा के प्रयोग के मुख्य क्षेत्र हैं- शासन, शिक्षा, न्यायपालिका तथा कार्यपालिका।

8. अन्तर्राष्ट्रीय भाषा (International Language) - दो अथवा दो से अधिक देशों द्वारा प्रयुक्त भाव आदान-प्रदान की भाषा को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा कहते हैं। दो या दो से अधिक देशों में व्यापार, राजनीति आदि के लिए ऐसी भाषा की आवश्यकता होती है। वर्तमान समय में अंग्रेजी, फ्रेंच, अरबी, स्पेनी, पुर्तगाली प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय भाषाएँ हैं।

25

(vii) भाषा और वाक्

भाषा शब्द का प्रयोग प्रायः सामान्य अर्थ में किया जाता है जिसमें परस्पर मिलती जुलती अनेक परिकल्पनाएँ समाहित रहती हैं। सस्यूर (1916) ने सर्वप्रथम भाषा (Langue) और वाक् (parole) में अन्तर स्पष्ट किया है।

वाक् स्थूल और भौतिक वस्तु है, **भाषा** सूक्ष्म और भावानीत वस्तु है। हम जो बोलते या सुनते हैं, वह वस्तुतः वाक् होती है। उसे सुनते-सुनते हम जो सीख लेते हैं **वह भाषा होती है**। भाषा सीख लेने पर हम जो बोलते हैं, वह वाक् उसका माध्यम है। **यदि हम किसी वाक्य का दस बार उच्चारण करें तो हमें वाक्य की दस इकाइयाँ प्राप्त होंगी; किन्तु वे भाषा की एक ही इकाई की दस आवृत्तियाँ मात्र होंगी। भाषा को समाज के प्रत्येक सदस्य में एकत्र प्रभावों की समष्टि कहा गया है जबकि वाक् उसकी अभिव्यक्ति**

है। सादृश्यमूलक परिवर्तन वाक् से जन्म लेते हैं। वाक्य और व्याकरण भाषा की इकाइयाँ हैं, वाक् में उच्चार तथा भाषा-व्यवहार की सत्ता है।

कोई भी भाषा बोलने वाला प्रत्येक सामान्य व्यक्ति किसी भी क्षण ऐसे अगणित वाक्यों का उच्चारण करने, उन्हें सुनने और समझने में समर्थ होता है जिन्हें उसने अधिकांशतः पहले कभी न बोला है, सुना है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति कुछ अत्यन्त विशिष्ट योग्यता प्राप्त कर लेता है। यही योग्यता उस व्यक्ति की **भाषायी क्षमता** कहलाती है। यह क्षमता शैशव के कुछ वर्षों में भाषार्जन की अवधि में आ जाती है।

□□□

26

लिंग्विस्तीक जेनेराल) में भाषा के तीन पक्षों का उल्लेख किया है—१. वैयक्तिक पक्ष, २. सामाजिक पक्ष, ३. सार्वभौम पक्ष।

(१) वैयक्तिक पक्ष—इसको उन्होंने पारोल (Parole) कहा है। अंग्रेज़ी में इसके लिए स्पीच (Speech) शब्द का प्रयोग होता है। इसको 'व्यक्तिवाक्' कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत वक्ता का ज्ञानार्जन और उसकी भाव-प्रकाशन की क्षमता भी सन्निविष्ट है। प्रत्येक व्यक्ति समाज से भाषा सीखता है और समाज को कुछ देता भी है। आदान-प्रदान को इस प्रक्रिया के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का भाषा के निरन्तर प्रवाह में योगदान है। व्यक्ति भाषा को आगे बढ़ाने में योग देता है, साथ ही वह मानवीय न्यूनताओं और अक्षमताओं के कारण कुछ परिवर्तन भी उपस्थित करता रहता है। ये परिवर्तन ही क्रमशः बढ़ते हुए भाषा में परिवर्तन के कारण बन जाते हैं।

(२) सामाजिक पक्ष—भाषा का सामाजिक पक्ष ही प्रमुख है। सामाजिक परिवेश में आकर ही भाषा का स्वरूप निखरता है। भाषा के सामाजिक रूप को श्री द सोसूर ने लांग (Langue) नाम दिया है। इसके लिए अंग्रेज़ी टंग (Tongue) शब्द प्रचलित है। इसको 'समष्टि वाक्' कहा जा सकता है। विश्व की विभिन्न प्रान्तीय और राष्ट्रीय भाषाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। भारतीय भाषाएँ हिन्दी, मराठी, बंगला आदि तथा विश्वभाषाएँ अंग्रेज़ी, रूसी, फ्रेंच, जर्मन आदि इसी श्रेणी में आती हैं। इनके वक्ताओं की संख्या का कोई निर्धारण नहीं है। यह अल्प-संख्या भी हो सकती है और करोड़ों की संख्या भी हो सकती है। भाषा का यह सामाजिक पक्ष ही है, जो चिरन्तन होते हुए भी अद्यतनीन है; सनातन होते हुए भी नित-नवीन है; प्रतिक्षण परिवर्तित होते हुए भी अनश्वर एवं शाश्वत है। व्यक्तिगत परिवर्तन भाषा के किसी एक अंश को ही प्रभावित कर सकते हैं। सामाजिक पक्ष में ही आदान-प्रदान की प्रक्रिया चलती है, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है।

(३) सार्वभौम पक्ष—श्री द सोसूर ने भाषा के सार्वभौम पक्ष की भी स्थापना की है। उन्होंने इसको लांगाज़ (Langage) नाम दिया है। इसे 'विश्ववाक्' नाम दिया जा सकता है। यह भाषा का सामान्य एवं सार्वभौम पक्ष है। इसमें भाषाओं के विभिन्न रूपों का भेद नहीं रहता, अपितु मानव मात्र की भाषा का निर्देश होता है। यह भाषा का अभेद या अद्वैत रूप है। भाषा के विश्ववाक् रूप में विश्व की सभी भाषाओं का संकलन होता है। यह वेदान्त के महाकाश के तुल्य एक विश्वजनीन अनिर्वचनीय सार्वभौम सत्ता है, जो मानव-भाषा की समष्टि का निर्देश करती है। यह 'विश्ववाक्' भाषा का दार्शनिक पक्ष है, जो अनेक में एकत्व का दर्शन कराकर भाषा की विश्वरूपात्मकता को प्रकट करता है, जिसके द्वारा विश्वैकत्व और विश्व-बन्धुत्व की भावना का उदय होता है।

२.८. भाषा और वाक्

भाषा शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से अपने व्यापक अर्थ में किया जाता है। इसमें उच्चारण, ग्रहण और बोध सभी का समावेश रहता है। बोलने वाला भी भाषा बोलता है, सुनने वाला भी भाषा सुनता है और बोध भी भाषा रूप में होता है। परन्तु गम्भीरता से

विचार करने पर भाषा के दो रूप प्रकट होते हैं—(१) स्थायी एवं सूक्ष्म रूप, (२) अस्थायी एवं स्थूल रूप। स्थायी एवं सूक्ष्म रूप को 'भाषा' (Language) और अस्थायी एवं स्थूल रूप को 'वाक्' (Speech) कहेंगे। इस 'वाक्' को भाषण भी कह सकते हैं। 'भाषा और वाक्' का अन्तर 'भाषा और भाषण' के अन्तर से भी समझा जा सकता है।

(क) भाषा और वाक्—भाषा सूक्ष्म एवं भावात्मक वस्तु है, वाक् स्थूल और भौतिक वस्तु है। भाषा स्थायी है, वाक् अस्थायी है। जो कुछ हम बोलते और सुनते हैं, वह वाक् है। श्रवण के द्वारा जो हमें ज्ञान होता है, वह भाषा है। वागिन्द्रिय द्वारा उच्चरित और श्रवणेन्द्रिय द्वारा गृहीत भाषा का रूप 'वाक्' की कोटि में आता है। भाषा के आदान और प्रदान—बोलने और सुनने को—की गणना वाक् में होती है। इसके द्वारा जो बोध या ज्ञान होता है, वह भाषा का वास्तविक रूप है। भाषा कूटस्थ है, भावात्मक है, सूक्ष्म है और अनिर्वचनीय है। 'वाक्' भाषा के प्रकाशन का माध्यम है। यह स्थूल एवं नश्वर है। इसका निर्वचन या विश्लेषण हो सकता है। इसी आधार पर ध्वनि-विज्ञान अंग की सत्ता है। वाक्यपदीय के शब्दों में भाषा को 'स्फोट' और वाक् को 'नाद' कह सकते हैं। भाषा साध्य है, वाक् साधन। हम शब्दों या वाक्यों को सुनकर जो कुछ सीखते हैं, वह भाषा है। भाषा को सीखकर जो हम बोलते हैं, वह वाक् है। इस प्रकार भाषा के बोधपक्ष को 'भाषा' कहते हैं और उच्चारण एवं श्रवण-पक्ष को वाक्। ज्ञान भाषा है और उसका प्रकाशन वाक्। भाषा अनुभूति, भाव और विचार के रूप में स्थायी है और वाक् उच्चारण के साथ नष्ट होती रहती है। एक वाक्य को बीस बार बोलने पर 'वाक्' की २० इकाइयाँ होंगी, परन्तु भाषा की वह एक इकाई मानी जायगी। 'भाषा' ज्ञान की समष्टि है और 'वाक्' उसकी अभिव्यक्ति। वाक्य और व्याकरण 'भाषा' के अंग हैं, परन्तु उच्चारण और ग्रहण 'वाक्' के अवयव हैं।

(ख) भाषाविषयक क्षमता एवं संपादन (Linguistic Competence and Linguistic Performance)—भाषा के अध्ययन और प्रयोग से दो प्रकार की दक्षता प्राप्त होती है। एक वह, जिसके द्वारा भाषा-विषयक ज्ञानवृद्धि होती है, भाषा के नियमों को आत्मसात् किया जाता है और यथासमय अर्थ का निर्धारण करते हुए उन्हें स्वनिम का रूप दिया जाता है। इसको **'भाषा-विषयक क्षमता'** कहा जाता है। ज्ञान-वृद्धि के साथ ही साथ यह क्षमता बढ़ती जाती है। इस क्षमता की वृद्धि के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और गंभीर भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। दूसरी ओर वाक्-पटुत्व है। एक व्यक्ति ज्ञात और अज्ञात अनेक भाषाओं के वाक्यों का साधुत्व के साथ उच्चारण कर सकता है, उन्हें सुन और समझ सकता है, इसको **'भाषाविषयक संपादन'** कहा जाता है। भाषा-विषयक क्षमता बाल्यकाल से ही उस भाषा के व्याकरण के ज्ञान से होती है। यह क्रमशः बढ़ती जाती है। शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण के द्वारा संपादन की योग्यता बढ़ती जाती है।

(ग) क्षमता और संपादन के दो अंग—भाषा-विषयक क्षमता के निर्धारण के दो अंग हैं—(१) जन्म-सिद्ध अंश, (२) अर्जित अंश। जन्म-सिद्ध अंश को भाषा-विषयक सार्वभौम (Linguistic Universal) कहते हैं। ये तत्त्व विश्व की सभी

के महाभाष्य से चलता है, परन्तु इसका विकसित रूप भर्तृहरि (षष्ठशतक) के 'वाक्यपदीय' में उपलब्ध होता है। नागेश भट्ट (१८ शतक) ने 'लघुमंजूषा' में अन्य मतों का खण्डन कर पाणिनि के सिद्धान्तों का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया है, परन्तु इस विषय में 'वाक्यपदीय' ही सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

भर्तृहरि के अनुसार शब्दाद्वैत का तात्पर्य यह है कि स्फोटरूप शब्द ही एकमात्र सत्यभूत पदार्थ है। यह समस्त जगत् इसी स्फोट का एक विवर्तमात्र है। वाक् चार प्रकार की होती है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें 'पश्यन्ती' वाक् ही परब्रह्मस्वरूपिणी है। अक्षर, शब्द-ब्रह्म, पराबाक् इसी के नामान्तर हैं। वैयाकरणों की दृष्टि में शब्द-ब्रह्म और परब्रह्म में विशेष अन्तर नहीं है। पश्यन्ती वाक् चैतन्यरूपा है। वह अखण्ड, अभिन्न तथा अद्वयतत्त्व है। इसमें ग्राह्य तथा ग्राहक का परस्पर भेद प्रतीत नहीं होता। इसमें इसीसे देशगत तथा कालगत क्रम का आभास भी उपलब्ध नहीं होता। इसलिए इसे कहीं पर 'अक्रमा' और कहीं पर 'प्रतिसंहृतक्रमा' शब्दों से अभिहित किया गया है। यही पश्यन्ती शब्दतत्त्व की विवक्षा से अर्थात् अर्थ के प्रतिपादन करने की वाञ्छा से मनोविज्ञान का रूप धारण करती है। इसी का नाम मध्यमा वाक् है। जिस समय इन्द्रियों के अभिघात के कारण प्राण में स्थूल वृत्ति का उदय होता है उसी समय वैखरी वाक् का प्रादुर्भाव होता है। वस्तुतः पश्यन्ती ही मुख में आकर कण्ठ, तालु आदि स्थानों के विभाग से वैखरी नाम से प्रसिद्ध होती है। बाहरी अर्थ की वासना से प्रेरित होकर, अविद्या के प्रभाव से यही घट, पट आदि अर्थ के रूप में विवृत होकर चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर होती है। इस प्रकार शब्दब्रह्म ही अनादि अविद्यारूपी वासना के कारणभेद को प्राप्त होकर अर्थ के रूप में परिवर्तित होता है, परन्तु वास्तव में वाचक से पृथक् वाच्य की सत्ता है ही नहीं; जो कुछ विद्यमान है वह केवल वाचक (अर्थात् शब्द) ही है। ज्ञानमात्र ही वाक् स्वरूप है और यही वाक्य परम तत्त्व है[१०]। इस प्रकार व्याकरणसिद्धान्त के प्रधान आचार्य भर्तृहरि अद्वैतवादी ही माने जाते थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

वाक् के त्रिविध प्रकार के वर्णन में भर्तृहरि ने भौतिक की अपेक्षा बौद्धिक स्तर को ही क्रमशः ऊपर उठता हुआ दिखलाया है। वैखरी सभी तरह की व्यक्त ध्वनियों का प्रतीक है। व्यक्त वर्ण और अव्यक्त वर्ण, साधु शब्द (संस्कृत) तथा असाधु शब्द (अपभ्रंश) तथा इसी प्रकार अन्य शब्दों का द्योतन वैखरी करती है। मध्यमा अंतःसंनिवेशवाली होती है तथा वैखरी की अपेक्षा [illegible]

होती है और उसका व्यापार भीतरी होता है। वह सूक्ष्म प्राणशक्ति के द्वारा परिचालित होती है। वक्ता की बुद्धि में शब्द क्रमरूप से प्रतिभासित होते हुए प्रतीत होते हैं। संक्षेप में 'चिन्तन' का कार्य मध्यमा वाक् करती है। भर्तृहरि के अनुसार शब्द की त्रिविध वृत्तियां होती हैं—द्रुत, मध्यम और विलम्बित। पुनः इन तीनों में शब्द के पाँच औपाधिक भेद होते हैं—उच्च, मंद, उपांशु, परमोपांशु तथा संहृतक्रम। इन पाँचों में उच्च तथा मंद का सम्बन्ध वैखरी से है और उपांशु का सम्बन्ध मध्यमा से है। 'उपांशु' का अर्थ है—मौन भाषण, अर्थात् बोलने की वह दशा जिसमें शब्द भीतर ही भीतर होते हैं, उन्हे कोई सुन नहीं सकता। 'परमोपांशु' इससे सूक्ष्मतर उस दशा का संकेत है जब शब्द बुद्धिस्थ होते हैं और उनका उच्चारण कथमपि नहीं होता। उपांशु में प्राणवृत्ति का संचार होता है, परमोपांशु में बुद्धि वृत्ति का, मध्यमा में शब्द की विवक्षाजन्य मानसिक क्रिया होती है, अर्थात् वक्ता बोलना चाहता है और बोलने के लिए वह शब्दों को ढूँढकर प्रकट करना चाहता है। यही 'मध्यमा' वाक् का क्षेत्र है। वैखरी का सम्बन्ध व्यक्त ध्वनि के साथ है।

पश्यन्ती मध्यमा से भी सूक्ष्मतर होती है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की स्ववृत्ति में इसके रूप को प्रकट किया है। पश्यन्ती का प्रधान लक्षण है कि वह 'प्रतिसंहृतक्रमा' होती है अर्थात् उस समय वर्णों में किसी प्रकार के क्रम की कल्पना नहीं की जा सकती। वह चला और अचला दोनों हैं। वह चला इसलिए कहलाती है कि शब्द की अभिव्यक्ति में गति होती है। अपने विशुद्ध रूप में वह अचला अर्थात् निःस्पंद रहती है। इस प्रकार पश्यन्ती के अनेक भेद होते हैं, परन्तु अपने मूलरूप में वह क्रमरहित, स्वप्रकाश तथा संवित्-रूप है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि नागेश प्रादि नव्य वैयाकरण परा वाक् में जो लक्षण उपस्थित मानते हैं वे सब भर्तृहरि की दृष्टि में पश्यन्ती में ही विद्यमान रहते हैं। तथ्य यह है कि भर्तृहरि परा वाक् को मानते ही नहीं, वे पश्यन्ती को ही शब्द-ब्रह्म के रूप में स्वीकृत करते हैं।[११]

व्याकरण की पदार्थमीमांसा न्याय-वैशेषिक के समान ही है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य आदि की कल्पना दोनों दर्शनों में एक समान ही है। वैयाकरण योग शक्ति को एक विशिष्ट पृथक् पदार्थ स्वीकार करते हैं। इस विषय में ये 'मीमांसा' से सहमत हैं। इस प्रकार दार्शनिक जगत् में व्याकरण का अपना विशिष्ट स्थान है। इसीलिए भर्तृहरि ने इसे सब विद्याओं में पवित्र तथा अपवर्ग का द्वार बतलाया है।[१२]

अध्याय-10

भारतीय आर्य भाषा

सर विलियम जॉन्स ने 18वीं शताब्दी में संस्कृत भाषा का अध्ययन करने के बाद एक नवीन अवधारणा '**भारोपीय भाषा परिवार**' की स्थापना की। इसका कारण था संस्कृत, ग्रीक और लैटिन भाषाओं में पाया जाने वाला घनिष्ठ सम्बन्ध। यह सम्बन्ध कितना घनिष्ठ है और क्या इस सम्बन्ध के आधार पर इन्हें एक ही 'आदि-भाषा' से विकसित सहोदर भाषाएँ माना जा सकता है ? डॉ० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भाषा और समाज' में इस सिद्धान्त का सुचिन्तित विशेषण किया है। इस परिवार की दक्षिण एशियाई भाषाओं को 'भारतीय आर्यभाषाएँ' कहा जाता है। भारत में 'भारतीय-आर्यभाषाओं' के अतिरिक्त अंदमानी, द्रविड़, मुंडा और तिब्बत-चीनी परिवार की भाषाएँ बोली जाती है।

(i) आदि (प्राचीन) भारतीय आर्यभाषा

आदि भारतीय आर्यभाषा का काल ई० पू० 1500 से ई० पू० 500 तक माना जाता है। (यह कालावधि विवादास्पद है) इस काल में आदि भारतीय आर्यभाषा के दो रूप मिलते हैं :1) वैदिक संस्कृत - ई० पू० 1500 से ई० पू० 800 तक; 2) लौकिक संस्कृत - ई०पू० 800 से ई०पू० 500 तक। संस्कृत भाषा का सम्बन्ध आर्यों से है, संस्कृत न तो एक काल की भाषा है और न ही एक स्थान की।

आर्य भारत के मूल निवासी थे या बाहर से आये, इस पर विद्वानों में मतभेद हैं। बहुसंख्य भाषाविद् यही स्वीकार करते हैं कि आर्य बाहर से आए और कई बार आए।

आर्यों की प्रारम्भिक भाषा, ईरान से जुड़ी होने के कारण, ईरानी भाषा से बहुत अलग नहीं थी। किन्तु क्षेत्र-परिवर्तन के कारण तथा परस्पर सम्बन्ध कम होने के कारण कुछ समय पश्चात् ईरानी से वह अलग हो गई।

वैदिक संहिताएँ आदि-भारतीय-आर्यभाषा के प्राचीनतम रूप हैं। वस्तुतः वेद किसी एक ऋषि द्वारा तैयार किया गया ग्रंथ नहीं है। यह अनेक ऋषियों की स्तुतियों का कालान्तर में संकलित रूप है। श्रुति परम्परा में रहने के कारण इनमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी परिवर्तन हुए होंगे, इसी कारण इनमें भाषिक विविधता के रूप दिखाई देते हैं। साहित्यिक भाषा हो जाने के कारण दुरूह बनी इन संहिताओं को सामान्य जनों के लिए बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से पदपाठ बनाए गये, पद-पाठों से संहिता-पाठ बनाने का नियम और इन नियमों के निर्देशन के लिए प्रातिशाख्यों की रचना की गई। प्रातिशाख्यों में वर्ण-विचार, उच्चारण प्रक्रिया, पद-पाठ आदि दिये गये हैं। वैदिक संहिताओं में पूर्ववर्त्ती और परवर्ती, दोनों भाषा रूप विद्यमान हैं। 'ऋग्वेद' के दसूरे से आठवें मण्डल की भाषा में पूर्ववत्ती रूप तथा पहले और नवें मण्डल की भाषा में परवर्त्ती रूप उपस्थित है। काव्यभाषा होने के कारण वैदिक संहिताओं की भाषा उस युग की बोलचाल की भाषा से अलग है। उस समय तक

आर्यों का केन्द्र सप्तसिंधु या पंजाब रहा होगा। इस काल की भाषा के रूप हमें सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में मिलते हैं।

इसके पश्चात् मध्यप्रदेश आर्यों का केन्द्र बना और सम्भवतः इसी काल में ब्राह्मणों तथा उपनिषदों की रचना हुई। इन ग्रंथों में वेदों के बाद की भाषा मिलती है। इसमें गद्य-भाग भी हैं। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते भाषिक जटिलता और रूपाधिक्य कम हुआ है। यह स्थिति 800-900 ई०पू० की मानी जाती है। वेदों की भाषा को **वैदिक संस्कृत** और उपनिषदों की भाषा को **लौकिक संस्कृत** की संज्ञा दी गयी है।

जब वैदिक संस्कृत 'सहित्य' की भाषा थी, उस अवधि में लौकिक संस्कृत जनसाधारण के बोलचाल की भाषा के रूप में विकसित हुई होगी। धीरे-धीरे वैदिक संस्कृत को अपदस्थ कर लौकिक संस्कृत 'सहित्य' की भाषा बनी। पाँचवी शती ईसा-पूर्व में पाणिनि ने अपने व्याकरण 'अष्टाध्यायी' में पंजाब में प्रयुक्त संस्कृत के रूप से अपेक्षाकृत अधिक परिनिष्ठित एवं पंडितों में मान्य रूप को नियमबद्ध किया, जो लौकिक या क्लासिकल संस्कृत का आदर्श बना।

(ii) आदि (प्राचीन) भारतीय आर्यभाषा की विशेषताएँ

वैदिक संस्कृत में स्वनिमों की संख्या 52 थी।

1. स्वर : मूल स्वर : अ, आ , इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ।
संयुक्त स्वर : गुण स्वर ए, ओ; वृद्धि स्वर : ऐ, औ।

स्वराघात - वैदिक संस्कृत में स्वराघात के रूप में विद्यमान अनुदात्त, उदात्त, स्वरित का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वैदिक ग्रंथों के छन्दों को बिना स्वराघात के पढ़ना-पढ़ाना अशुद्ध माना जाता है। स्वराघात से शब्दों का अर्थ भी बदलता है। यथा-इन्द्र शत्रुः = जिसका शत्रु इन्द्र है (बहुब्रीहि), इन्द्र : शत्रु = इन्द्र का शत्रु (तत्पुरुष)।

अपश्रुति - स्वर एवं अक्षर के परस्पर परिवर्तन के कारण पद की प्रकृति अथवा प्रत्यय या विभक्ति में होने वाले परिवर्तन को अपश्रुति कहा जाता है। संस्कृत वैयाकरणों ने इसके विभिन्न क्रमों को 'गुण', 'वृद्धि', एवं 'सम्प्रसारण' नाम से अभिहित किया। भारतीय आर्यभाषा के स्वर-परिवर्तन के पाँच प्रकार दिखाई देते हैं - इनकी निम्नलिखित श्रेणियाँ हैं- क) **स्वरयुक्त प्रकृत स्वर**- ए, ओ, अर्, अल् (गुण स्वर) का स्वर रहित ह्रस्वीभूत रूप इ, उ, ॠ, ऌ में परिवर्तन तथा इसी प्रकार वृद्धिस्वरों ऐ, औ, आर्, आल् का ह्रस्वीभूत स्वरों में परिवर्तन। यथा- 'दिदेश' (उसने बताया), 'दिष्ट' (बताया हुआ), 'आप्नोमि' (मैं प्राप्त करता हूँ), 'आप्नुमः' (हम प्राप्त करते हैं)। ख) **स्वरयुक्त प्रकृत सम्प्रसारण**- य्, व्, र्, का स्वरहीन ह्रस्वीभूत स्वरों इ, उ, ॠ में परिवर्तन यथा- वष्टि (वह इच्छा करता है), उश्मसि (हम इच्छा करते हैं)। ग) **ह्रस्वीभूत क्रम में अ का लोप**। यथा - 'हन्ति' मारता है, 'हनन्ति' मारते हैं आदि। वृद्धि स्वर 'आ' का ह्रस्वीभूत क्रम में या तो 'अ' रह जाता है अथवा लोप हो जाता है। यथा- पाद (पैर), पदा (तृतीया एकवचन)। घ) **ह्रस्वीभूत क्रम में 'ऐ'** (जो स्वरों के पूर्व 'आय्' एवं व्यंजनों के पूर्व

द्योतक होते हैं।[1] अतः वैयाकरणों ने उपसर्ग को वाचक न मानकर केवल द्योतक (प्रकाशक) माना है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है, अतः इसे अव्यय कहते हैं। उपसर्ग और निपात में अन्तर यह है कि निपात का प्रयोग स्वतन्त्र भी हो सकता है। पाणिनि ने उपसर्ग और निपात को भी सुबन्त में लिया है। अतः इनके बाद की कारक-विभक्तियों का लोप दिखाया है।[2]

भर्तृहरि ने प्राचीन मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि आचार्यों ने पद के दो, चार और पाँच भेद माने हैं।[3] उन्होंने पाँचवाँ भेद कर्मप्रवचनीय भी दिया है। वस्तुतः कर्मप्रवचनीय वे शब्द हैं जो पहले क्रिया के बोधक थे (कर्म-क्रिया, प्रवचनीय कहने वाले अर्थात् जो क्रिया-बोधक थे)[4], किन्तु प्रयोग से घिसने के कारण केवल उपसर्ग आदि के रूप में शेष रह गए।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से पाणिनि का पद-विभाजन सर्वश्रेष्ठ है। संज्ञा और क्रिया, ये दो ही मुख्य हैं। व्यावहारिक सुविधा के लिए ही नाम से उपसर्ग और निपात को पृथक् किया गया है।

हिन्दी में पद-विभाग अंग्रेजी व्याकरण के आधार पर किया गया है। कामता प्रसाद गुरु ने हिन्दी के ८ पद-विभाग किए हैं—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, क्रिया-विशेषण, सम्बन्ध-सूचक, समुच्चय-बोधक, विस्मयादिबोधक। अंग्रेजी का पद-विभाग वस्तुतः लैटिन से लिया गया है। यह विभाजन अंग्रेजी के लिए भी संगत नहीं माना जाता है। परम्परा के आधार पर, अनावश्यक एवं अनुपयुक्त होने पर भी, यह ८ प्रकार का पद-विभाग हिन्दी में माना जाता है। वस्तुतः इन आठ विभागों को ३ विभागों में समाहित किया जा सकता है।

१. नाम—संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण। ये संज्ञा के ही विभिन्न रूप हैं। नाम में इनका अन्तर्भाव होता है। पाणिनि ने इनको सुबन्त में रखा है।

२. आख्यात या तिङन्त—क्रिया-शब्द।

३. अव्यय—इसमें क्रिया-विशेषण (जब, तब, कहाँ, जैसा आदि), सम्बन्ध-सूचक (को, ने, से आदि), समुच्चय-बोधक (और, अथवा, किन्तु आदि), विस्मयादि-बोधक (ओह, आह, छिः आदि), ये चारों भेद समाहित होते हैं। इस प्रकार आठ भेदों को तीन भेदों में लिया जा सकता है।

६.९. व्याकरणिक कोटियाँ (Grammatical Categories)

भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का आश्रय लिया जाता है। भाषा में वाक्य ही

---

१. न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति। (निरुक्त १-३)

२. अव्ययादाप्सुपः (अष्टा० २-४-८२)

३. द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृति-प्रत्ययादिवत्॥ (वाक्य० ३-१)

४. 'कर्म क्रियां प्रोक्तवन्तः' इति कर्मप्रवचनीयाः। (सि० कौ० तत्त्वबोधिनी)

वह लघुतम इकाई है, जो भावों को व्यक्त करने में समर्थ होता है। प्रत्येक वाक्य में पद-विभाग की कोटियाँ सम्मिलित रहती हैं। इनके परस्पर सम्बन्ध को बताने के लिए सम्बन्ध-तत्त्वों की आवश्यकता पड़ती है। सम्बन्ध-तत्त्व जिन भावों की अभिव्यक्ति करते हैं, वे हैं—लिंग, वचन, पुरुष, काल, वृत्ति (मूड, Mood), कारक आदि। लिंग, वचन आदि को व्याकरणिक कोटियाँ कहते हैं। इनका कार्य है—भाषा में अभिव्यंजना-सम्बन्धी सूक्ष्मता और निश्चयात्मकता लाना। इनके लिए ही सम्बन्ध-तत्त्वों का प्रयोग किया जाता है।

व्याकरणिक कोटियों के विषय में तीन बातें उल्लेखनीय हैं—

१. प्रत्येक भाषा में शब्द-निर्माण और रचना-पद्धति में भेद होता है। संस्कृत, चीनी, अरबी तथा अंग्रेजी की रचना-पद्धति भिन्न हैं।

२. प्रत्येक भाषा की व्याकरणिक कोटियाँ काल-सापेक्ष हैं। कालक्रमानुसार इन कोटियों में परिवर्तन होता रहता है, जैसे—संस्कृत के तीन लिंग और तीन वचन के स्थान पर प्राकृत और अपभ्रंश में दो लिंग, दो वचन शेष रहे।

३. प्रत्येक भाषा के गठन के आधार पर व्याकरणिक कोटियों का निर्माण और वर्गीकरण होता है। इसके आधार पर ही भाषा का विवेचन और विश्लेषण होता है तथा नये शब्दों के निर्माण में इनसे सहायता मिलती है।

(१) लिंग (Gender)

लिंग का अर्थ है—चिह्न, जिससे किसी वस्तु को पहचाना जा सके। लिंग दो प्रकार के हैं—१. प्राकृतिक या जन्म-सिद्ध, २. व्याकरणिक। प्राकृतिक लिंग में पुरुष और स्त्री का कुछ अवयव-संस्थानों के द्वारा निर्णय किया जाता है। स्तन, केश आदि के द्वारा स्त्री। रोम, मूँछ आदि के द्वारा पुरुष। इन दोनों के अभाव में नपुंसक।[1] व्याकरणिक लिंग प्राकृतिक लिंग का अनुसरण अनिवार्य रूप से नहीं करते हैं। प्रत्येक भाषा में इसके अपवाद मिलते हैं। सामान्यतया तीन लिंग संस्कृत, जर्मन आदि भाषाओं में प्रचलित हैं। इनके लिए अलग चिह्न भी निर्दिष्ट हैं। इनके नाम हैं—पुंलिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसक लिंग। कोई भी भाषाशास्त्री आज तक इस कार्य में सफल नहीं हो सकता है कि वह शब्दों के लिंग-निर्णय का कोई उचित आधार बता सके।

यदि संस्कृत भाषा का उदाहरण लें तो इसमें पत्नी के लिए तीनों लिंगों के शब्द हैं। जैसे, दार (पत्नी) पुंलिंग बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है, दाराः, दारान् (पत्नी)। स्त्री, नारी, पत्नी, भार्या आदि स्त्रीलिंग में आते हैं। कलत्रम् (पत्नी) नपुंसक लिंग है। इस प्रकार पत्नी के लिए तीनों लिंग में शब्द मिलते हैं। प्राकृतिक दृष्टि से केवल स्त्रीलिंग होना चाहिए था। इसी प्रकार निर्जीव जल के लिए आपः (जल, स्त्रीलिंग, बहु०), जलम्,

---

१. स्तनकेशवती स्त्री स्यात्, लोमशः पुरुषः स्मृतः।
उभयोरन्तरं यच्च, तदभावे नपुंसकम्॥
(वाक्यपदीय, लिंगसमुद्देश १ की व्याख्या में उद्धृत)

नपुंसक लिंग। एक ही अर्थ में ग्रन्थः पुं०, पुस्तकम् नपुं०। इसी प्रकार का अन्तर अन्य भाषाओं में भी पाया जाता है। जैसे—जर्मन में पत्नी (wife)-वाचक शब्द वाइब (weib) नपुंसक लिंग है—Das weib (डास वाइब)। इसी प्रकार जर्मन में सूर्य स्त्रीलिंग है—Die sonne (डी ज़ोने, सूर्य) और चन्द्रमा पुंलिंग है—Der mond (डेर मोन्ट, चन्द्रमा)। इसके विपरीत फ्रेन्च में सूर्य पुंलिंग है—Le soleil (ल सोलेय्, सूर्य) और चन्द्रमा स्त्रीलिंग (La lune, ला ल्यून, चन्द्रमा)।

रूसी भाषा में सूर्य-वाचक 'सोन्त्से' नपुंसक लिंग है और चन्द्रमा-वाचक 'लूना' पुंलिंग है। संस्कृत में सूर्य-वाचक 'मित्रः' शब्द पुंलिंग है, परन्तु वही 'मित्रम्' मित्र अर्थ में नपुंसक लिंग है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि लिंग के विषय में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता है। संस्कृत में तट शब्द तीनों लिंगों में आता है—तटः, तटी, तटम्। कुटी (कुटिया) शब्द स्त्रीलिंग है, किन्तु कुटीरः (कुटी) पुंलिंग है। हिम (बर्फ) नपुंसक लिंग है किन्तु ग्लेशियर या हिम-समूह का वाचक 'हिमानी' शब्द स्त्रीलिंग है। इसी प्रकार जंगल-वाचक 'अरण्यम्' शब्द नपुंसक लिंग है, किन्तु महावन-वाचक 'अरण्यानी' (बड़ा जंगल) शब्द स्त्रीलिंग है। मनुष्य के लिए अयं जनः, इयं व्यक्तिः, पुंलिंग और स्त्रीलिंग दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। इसी प्रकार एक ही वस्तु के लिए इदं वस्तु, अयम् अर्थः, ये दोनों नपुंसक लिंग और पुंलिंग प्रयोग मिलते हैं। पाणिनि ने इस विषय में लोक-व्यवहार को ही प्रामाणिक माना है।[1] पतंजलि और भर्तृहरि ने लिंग का आधार विवक्षा (वक्ता के कहने की इच्छा) को माना है।[2]

प्रत्येक भाषा में लिंग का आधार प्राकृतिक लिंग ही नहीं है। अमेरिका और अफ्रीका की कुछ भाषाओं में भी चेतन और अचेतन के आधार पर लिंग-विभाजन होता है। अलगोन्किन् और स्लावी भाषा में चेतन और अचेतन के आधार पर ही लिंग हैं। पूर्वी अफ्रीका के मसई लोगों की भाषा में लम्बी और सबल वस्तुओं के लिए अलग लिंग (पुंलिंग) है और छोटी या निर्बल के लिए अलग लिंग (स्त्रीलिंग)।

भाषा में लिंग के आधार पर ही व्याकरणिक अन्विति होती है। पुंलिंग के लिए पुंलिंग शब्द, स्त्रीलिंग के लिए स्त्रीलिंग शब्द। जैसे—शोभनः बालकः, शोभना बालिका, शोभनं पुष्पम्। हिन्दी में—बालक पढ़ता है, बालिका पढ़ती है।

लिंग का भाव दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है—**१. प्रत्यय लगाकर**—संस्कृत में आ या ई लगाकर पुंलिंग से स्त्रीलिंग। बालकः-बालिका, सुन्दरः-सुन्दरी, गौरः-गौरी

१. तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्। (अष्टा० १-२-५३)

२. स्थितेषु त्रिषु लिङ्गेषु विवक्षा-नियमाश्रयः।
कस्यचिच्छब्द-संस्कारे व्यापारः क्वचिदिष्यते॥
(वाक्यपदीय कांड ३, लिंगसमुद्देश, श्लोक १६)
उपात्त-शब्दशक्तिनियमाद् हि नियतलिङ्गोपायैरर्थस्याभिधानम्,
प्रयुक्तानां चेदमन्वाख्यानमिति व्यवस्था सिद्धा॥
(वाक्य० हेलाराज, पूर्वोक्त श्लोक की व्याख्या में)

(गोरी), प्रेयस्-प्रेयसी (प्रिया)। हिन्दी में—आ, ई, इन, इया, आनी, नी आदि लगाकर। जैसे—बालिका, नारी, धोबिन, कुतिया, नौकरानी, हथिनी, शेरनी आदि। अंग्रेजी में स् या एस् (ss, ess) लगाकर स्त्रीलिंग बनाते हैं। प्रिंस-प्रिंसेस् (Prince-Princess, राजकुमारी), गॉड-गॉडेस् (God-Goddess, देवी), लायन-लायनेस् (Lion-शेर, Lioness-शेरनी)। **२. स्वतन्त्र शब्द लगाकर**—पुंलिंग के लिए 'ही' (He), स्त्रीलिंग के लिए 'शी' (She)। He-goat (ही गोट, बकरा), She-goat (शी गोट, बकरी)। इसी प्रकार मैन (Man), वूमन (Woman), मेड (Maid) आदि शब्द अंग्रेजी में लगते हैं। जैसे—Washer-man (वाशर मैन, धोबी), Washer-woman (वाशर वूमन, धोबिन), Maid servant (मेड सर्वेन्ट, नौकरानी)।

संस्कृत में लिंग का प्रभाव संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम और क्रिया पर भी पड़ता है। जैसे—तानि सर्वाणि सुन्दराणि पुस्तकानि पठितव्यानि सन्ति (वे सब सुन्दर पुस्तकें पढ़ने योग्य हैं)। हिन्दी में क्रिया पर लिंग का प्रभाव पड़ता है। जैसे—लड़के जाते हैं, लड़कियाँ जाती हैं। हिन्दी में विशेषण और सर्वनाम पर लिंग-भेद का प्रभाव नहीं होता है।

(२) वचन (Number)

संस्कृत में तीन वचन होते हैं—एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। वैदिक और लौकिक संस्कृत में द्विवचन का प्रयोग है। प्राचीन फारसी और अवेस्ता में इसका अत्यधिक व्यवहार होता था। प्राचीन स्लावी में यह अभी तक प्रयोग में आता है। केल्टी भाषा में केवल आयरी के प्राचीन रूपों में द्विवचन मिलता है। लिथुआनी आदि भाषाओं में भी द्विवचन मिलता है। इस द्विवचन का धीरे-धीरे लोप हो गया है। पाली, प्राकृत आदि में द्विवचन नहीं है। ग्रीक आदि में भी द्विवचन का लोप हो गया है। लैटिन में द्विवचन प्रारम्भ से ही नहीं था। हिन्दी में द्विवचन नहीं है। सम्भवतः हाथ, आँख, नाक, कान, पैर आदि के जोड़े को देखकर द्विवचन की कल्पना हुई थी। परन्तु बाद में इसके कम प्रयोग को देखकर, इसे व्याकरण से हटाया गया। इसके लिए दो शब्द का प्रयोग होने लगा। दो आँख, दो कान आदि। संस्कृत में इसके लिए युग, युगल, द्वय, द्वयी आदि शब्द प्रयोग में आने लगे। जैसे—करयुगम्, करयुगलम्, करद्वयम्, करद्वयी (दो हाथ), आदि।

संख्या का महत्त्व बताते हुए भर्तृहरि ने वस्तुओं के भेद और अभेद का कारण संख्या को बताया है, और 'एक' संख्या को ही 'दो' आदि का कारण माना है।[1] संस्कृत में विशेषण आदि में भी वचन का प्रभाव रहता है। द्वे शोभने बालिके, त्रीणि पठनीयानि पुस्तकानि, तिस्रः बालिकाः, चत्वारि फलानि। संस्कृत में द्विवचन और बहुवचन बनाने के लिए शब्द-रूपों में औ, जस् (अः) आदि लगते हैं। क्रिया-रूपों में तः, अन्ति आदि। हिन्दी में बहुवचन बनाने के लिए शब्द-रूपों में एँ ओं आदि लगते हैं। जैसे—बालिकाएँ,

१. (क) भेदाभेदविभागो हि लोके संख्यानिबन्धनः। (वाक्य० कांड ३, संख्या० १)
(ख) द्वित्वादियोनिरेकत्वं भेदास्तत्पूर्वका यतः।
विना तेन न संख्यानामन्यासामस्ति संभवः॥ (वाक्य० कांड ३, संख्या० १५)

पुस्तकों आदि। अंग्रेजी में s, es लगते हैं।

बहुत्व अर्थ को दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है—१. व्यक्ति या वस्तु के अनुसार, २. समूह के अनुसार। व्यक्तिगत बहुत्व में बहुवचन होता है। समूहगत बहुत्व में एकवचन का भी व्यवहार होता है। जैसे—दो के लिए-जोड़ा (२), दर्जन (Dozen, १२), ग्रोस (Gross, १२ दर्जन या १४४) आदि। संस्कृत में व्यक्तिसमूह में जाति की एकता मानकर एकवचन का भी प्रयोग होता है।[1] जैसे—सज्जनः नमस्यः (सज्जनों को नमस्कार करें)। हिन्दी में—कुत्ता स्वामिभक्त पशु है। यहाँ कुत्तों के अर्थ में कुत्ता का प्रयोग है। जाति-शब्द समस्त जाति का बोधक हो जाता है। संस्कृत में २० से आगे की गिनतियाँ एकवचन में ही प्रयुक्त होती हैं (विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः)। विंशतिः बालकाः, शतं जनाः, सहस्रं योधाः। संस्कृत में एक से चार तक संख्यावाचक शब्दों के रूप विशेष्य के तुल्य चलते हैं परन्तु पंचन् (पाँच) से आगे एक ही रूप रहता है। क्रिया में भाव-वाच्य में केवल एकवचन ही होता है। बालकेन सुप्यते (बालक सोता है), बालकेन पठितव्यम् (बालक को पढ़ना चाहिए)।

संस्कृत में कुछ शब्दों का प्रयोग केवल द्विवचन में ही होता है। जैसे—दम्पती (पति-पत्नी), पितरौ (माता-पिता), अश्विनौ (२ अश्विनी-कुमार)। इसी प्रकार संस्कृत में कुछ शब्द सदा बहुवचन में ही आते हैं। जैसे—दाराः (पत्नी), लाजाः (खील), असवः, प्राणाः (प्राण), आपः (जल), वर्षाः (वर्षा), सुमनसः (फूल)। संस्कृत में—आदरार्थे बहुवचनम्—आदर अर्थ प्रकट करने में एकवचन के स्थान पर बहुवचन होता है। गुरवः पूज्याः, गुरु पूज्य हैं।

(३) पुरुष (Person)

भाषा में पुरुष की कल्पना का आधार है—१. वक्ता, २. श्रोता, ३. इनसे भिन्न व्यक्ति या वस्तु। १. वक्ता—उत्तम पुरुष, २. श्रोता—मध्यम पुरुष, ३. अन्य व्यक्ति या वस्तु—प्रथम या अन्य पुरुष। संस्कृत और अंग्रेजी में क्रिया के रूप चलाने में मौलिक अन्तर है। संस्कृत में क्रम है—प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष एवं उत्तम पुरुष—वह, तू, मैं। अंग्रेजी में इसके विपरीत क्रम है—उत्तम पुरुष (First Person), मध्यम पुरुष (Second Person), अन्य पुरुष (Third Person)। यह क्रम-भेद दोनों भाषाओं का मनोवैज्ञानिक अन्तर बताता है। संस्कृत के क्रम में अन्य पुरुष (वह) ब्रह्म, ईश्वर आदि का बोधक है, अतः ब्रह्म को क्रिया में प्रधानता दी गई है। अतः उसके पश्चात् श्रोता को द्वितीय स्थान पर रखा गया है। वक्ता या मैं को अन्तिम स्थान दिया गया है। इसके विपरीत अंग्रेजी में 'मैं' और 'हम' को सर्वप्रथम रखा गया है। 'वह' को अन्त में।

पुरुष के आधार पर क्रिया के रूपों में परिवर्तन होता है। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में पुरुष के आधार पर क्रिया-रूपों में अन्तर होता है। जैसे—पठ् से सः पठति,

१. जात्याख्यायामेकस्मिन्० (अष्टा० १-२-५८)

त्वं पठसि, अहं पठामि। अंग्रेजी में अधिकांश रूपों में मूल रूप से काम चल जाता है। I go, we go, they go। केवल एकवचन में s या es लगाया जाता है। जैसे—He walks, He goes. कभी-कभी सहायक क्रिया is, am, was, were रखकर काम चलाया जाता है। अधिकांशतः अन्य पुरुष एकवचन में अन्तर होता है। अरबी और फारसी आदि में इसी प्रकार पुरुष-भेद में अन्तर किया जाता है। चीनी आदि भाषाओं में यह अन्तर नहीं है। पुरुष का एकवचन (मैं, तू, वह) अन्यव्यावर्तक होता है और बहुवचन (हम, तुम, वे) अन्य-संग्राहक। जैसे—'मैं'—मैं के अतिरिक्त कोई नहीं। 'हम'—मैं तथा अन्य व्यक्ति भी। इस प्रकार द्विवचन और बहुवचन अन्य-संग्राहक हैं।

(४) कारक (Case)

पतंजलि ने (महाभाष्य १-४-२३) 'कारक' की व्याख्या की है कि—कारक अन्वर्थ (सार्थक) शब्द है। कारक का अर्थ है—'करोति इति कारकम्'। जो क्रिया का निष्पादक होता है, उसे कारक कहते हैं। कैयट और भर्तृहरि का कथन है कि क्रिया साध्य है और कारक साधन है। इस प्रकार क्रिया को सिद्ध करने वाले को 'कारक' कहते हैं।[1] संस्कृत व्याकरण के अनुसार सात कारक माने गए हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण और सम्बोधन। सम्बन्ध या षष्ठी को कारक नहीं माना जाता है, क्योंकि क्रिया की सिद्धि में उसका साक्षात् योग नहीं होता है। जैसे—राज्ञः पुरुषः आगच्छति (राजा का पुरुष आता है), इसमें राजा का सम्बन्ध पुरुष से है, न कि क्रिया से। गंगा का जल मधुर है, में गंगा का सम्बन्ध जल से है, क्रिया से नहीं। सम्बोधन को भी प्रथमा एकवचन का सम्बोधन का रूप माना जाता है। उसकी भी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इस प्रकार ६ कारक ही होते हैं। कुछ प्राचीन आचार्यों ने सम्प्रदान और अपादान को भी क्रिया से साक्षात् सम्बद्ध न मानकर कारकों की संख्या केवल चार मानी है। अतएव कारकत्व की पहचान 'कृ' धातु केवल चार कारकों में है—कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण।

कारकों की संख्या विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न है। अंग्रेजी में दो कारक हैं। लैटिन और जर्मन में पाँच। प्राचीन स्लाविक में छः, संस्कृत, ग्रीक और लिथुआनी में सात, हिन्दी में आठ और जार्जी भाषा में २३ कारक हैं।

(५) क्रिया (Verb)

विभिन्न आधारों को लेकर क्रिया के अनेक भेद किए गए हैं। जैसे—कर्म का होना या न होना; क्रिया के फल का भोक्ता कौन है; क्रिया की पूर्णता-अपूर्णता; क्रिया की निरंतरता या उसका अभाव आदि। भारोपीय परिवार की भाषाओं में ये भेद मिलते हैं—

१. गुणभावेन साकांक्षं तत्र नाम प्रवर्तते।
साध्यत्वेन निमित्तानि क्रियापदमपेक्षते॥ (वाक्यपदीय २-४६)
नाम कारकपदं क्रियायां गुणभूतं सत् पदान्तरमाकांक्षति। (हेलाराज)

(क) सकर्मक-अकर्मक—जिस क्रिया में कर्म होता है, उसे सकर्मक कहते हैं। जिसमें कर्म नहीं होता, उसे अकर्मक कहते हैं। कर्म का भाव (होना) और अभाव ही इनके भेद का आधार है। वान्द्रियैज़ (Vendryes) का यह कथन उपयुक्त है कि—'सकर्मक और अकर्मक क्रियाओं का भेद सम्भवतः निम्नलिखित ढंग से अधिक स्पष्टतया समझ में आ सकता है। क्योंकि सकर्मक का अर्थ ही यह है कि उसमें कर्म होना चाहिए, अतः उन सभी क्रियाओं को सकर्मक कहना चाहिए, जिनके कार्य के उद्देश्य की सूचना वाक्य में रहे, और इसके विरुद्ध अकर्मक उनको कहना चाहिए जिनका प्रयोग बिना कर्म की अभिव्यक्ति के हो।[1] भारोपीय परिवार की विभिन्न भाषाओं में सकर्मक और अकर्मक के भेद का आधार सुनिश्चित नहीं है। लैटिन में वह क्रिया सकर्मक है, जिसमें कर्म के साथ कर्म कारक का प्रयोग हो। फ्रांसीसी में उस क्रिया को सकर्मक कहते हैं, जिसके तुरन्त पश्चात् कर्म आवे। विभिन्न भाषाओं में एक ही भाव को किसी भाषा में सकर्मक तो किसी में अकर्मक क्रियाओं द्वारा व्यक्त किया जाता है। संस्कृत में भी कुछ धातुएँ सकर्मक होते हुए भी, कर्म का प्रयोग न होने के कारण, अकर्मक मानी जाती हैं।[2] जैसे—नदी वहति (नदी बहती है), मेघः वर्षति (बादल बरसता है), हितात् न शृणोति (हितकारी की बात नहीं सुनता है)। सामान्यतया वह्, वृष् और श्रु धातुएँ सकर्मक हैं।

(ख) आत्मनेपद-परस्मैपद—संस्कृत में कर्मफल के भोक्ता के आधार पर दो पद माने जाते हैं—(१) **आत्मनेपद**—'आत्मने' का अर्थ है—अपने लिए, अतः आत्मनेपद का अर्थ होता है कि जिस क्रिया का फल कर्ता को स्वयं मिलता है। जैसे—भोजनं कुरुते (भोजन करता है), कर्त्ता को भोजन क्रिया का फल मिलता है। (२) **परस्मैपद**—यदि फल का भोक्ता कोई दूसरा व्यक्ति हो तो परस्मैपद होता है। जैसे—पुत्राय मोदकम् आनयति (पुत्र के लिए लड्डू लाता है), शिष्याय फलं ददाति, फल का भोक्ता दूसरा है, अतः परस्मैपद हुआ। जिन धातुओं से दोनों पद होते हैं, उन्हें उभयपदी कहते हैं। संस्कृत के परकालीन साहित्य में दोनों पदों का यह भेद लुप्त हो गया और दोनों पद समान रूप से प्रयुक्त होने लगे। जैसे—

सः कार्यं करोति कुरुते वा (वह काम करता है)।

(ग) वाच्य (Voice)—भारोपीय भाषाओं में तीन वाच्य मिलते हैं—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य। क्रिया में कर्त्ता की प्रधानता होने पर कर्तृवाच्य, कर्म की प्रधानता होने पर कर्मवाच्य और केवल भाव या क्रिया (व्यापार) की प्रधानता होने पर भाववाच्य। जैसे—

कर्तृवाच्य—रामः गृहं गच्छति (राम घर जाता है)

कर्मवाच्य—रामेण गृहं गम्यते (राम के द्वारा घर जाया जाता है)

---

१. वांद्रियैज़—भाषा, हिन्दी अनुवाद-डॉ० ज० कि० बलवीर, पृष्ठ १३०।

२. धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया॥ (सि० कौ० सूत्र २७०१ पर)

भाववाच्य—रामेण सुप्यते (राम के द्वारा सोया जाता है)

सकर्मक क्रिया के दो वाच्य होते हैं—कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य। अकर्मक क्रिया का कर्मवाच्य नहीं होता है, केवल कर्तृवाच्य और भाववाच्य होते हैं। जैसे—सः स्वपिति (वह सोता है), तेन सुप्यते (उसके द्वारा सोया जाता है)। भाववाच्य में संस्कृत में क्रिया में केवल प्रथम पुरुष एकवचन का प्रयोग होता है और शब्द में नपुंसक लिंग एकवचन। जैसे—तेन पठ्यते, तेन पठितव्यम्। संस्कृत में कार्य की सरलता के आधार पर कर्म को कर्ता मानकर कर्म-कर्तृवाच्य नाम दिया गया है। इसमें क्रिया कर्मवाच्य के तुल्य रहती है और कर्ता कर्तृवाच्य के तुल्य प्रथमा में। जैसे—पच्यते ओदनः (भात पकता है), भिद्यते काष्ठम् (लकड़ी फटती है)।

भारोपीय परिवार की अधिकांश भाषाओं में कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य की क्रिया की भावना प्रयत्नमात्र है। कर्मवाच्य से प्रायः ऐसी क्रिया का बोध होता है जो समाप्त हो गई हो। अतएव फ्रांसीसी में ऐत्र (Etre, होना) धातु की सहायता के बिना कई क्रियाएँ भूतकाल के अर्थ का बोध नहीं करा सकती हैं। यही बात लैटिन में भी थी। लैटिन में कर्मवाच्य का एक अन्य प्रयोग भी था, जिसको अवैयक्तिक वाच्य या भाववाच्य कहा जाता है।

(६) काल, वृत्ति (Tense, Mood)

काल के सामान्यतया तीन भेद किए जाते हैं—१. वर्तमान, २. भूत, ३. भविष्यत्। इसका आधार है—कार्य की निष्पत्ति के होने का समय। यदि घटना अबकी है तो वर्तमान काल, पहले की है तो भूतकाल, आगे होने वाली हो तो भविष्यत् काल। इन कालों की क्रिया की पूर्णता अपूर्णता आदि, प्रकार या वृत्ति (मूड, Mood) के आधार पर अनेक भेद उपभेद हो गए हैं। प्रत्येक भाषा में काल की धारणा भिन्न-भिन्न है। काल के लिए टेन्स (Tense) शब्द का प्रयोग होता है और प्रकार या वृत्ति के लिए मूड (Mood) शब्द। संस्कृत में दोनों के लिए 'लकार' शब्द का प्रयोग होता है। संस्कृत में १० लकार हैं। इनको काल और वृत्ति के विभाजन के अनुसार इस प्रकार कहा जाएगा। **(१) वर्तमान**—लट्। **(२) भूतकाल**—तीन प्रकार का है—(क) सामान्यभूत—लुङ्, (ख) अनद्यतन (आज का न हो) भूत—लङ्, (ग) परोक्ष-भूत—लिट्। **(३) भविष्यत्**—तीन प्रकार का है—(क) सामान्य भविष्यत्—लृट्, (ख) अनद्यतन भविष्यत्—लुट्, (ग) हेतुहेतुमद् भविष्यत्—लृङ्। इसके अतिरिक्त ३ वृत्तियाँ हैं—(१) आज्ञा अर्थ—लोट्, (२) चाहिए अर्थ—विधिलिङ्, (३) आशीर्वाद अर्थ—आशीर्लिङ्। वेद में लोट् लकार का प्रयोग आता है। यह अभिलाषा सम्भावना, विधि (आज्ञा) या प्रार्थना अर्थ में होता है। हिन्दी में तीन काल हैं—वर्तमान, भूत, भविष्य। १. निश्चयार्थ, २. आज्ञार्थ और ३. सम्भावनार्थ, इन तीन मुख्य अर्थों को लेकर तथा व्यापार की सामान्यतया पूर्णता एवं अपूर्णता के आधार पर हिन्दी में कालों की संख्या १६ है। इसका विवरण निम्न प्रकार से है—

केवल स्थान बदल देने से अर्थ बदल जायगा। इसी प्रकार अन्य भाषाओं में भी स्थान-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। चीनी भाषा में ज़ेन का अर्थ है—आदमी, ता का अर्थ है—बड़ा या महान् है। 'ता' क्रिया और विशेषण दोनों हो सकता है। ज़ेन ता (आदमी महान् है), ता ज़ेन (महान् व्यक्ति, बड़ा आदमी)। पहले वाक्य में 'ता' क्रिया है, दूसरे में विशेषण।

५. अर्थ-परिवर्तन—अर्थ-परिवर्तन के द्वारा भी भाषा में परिवर्तन की दिशा का बोध होता है। प्राय: देखा जाता है कि जो शब्द मूलरूप में जिस अर्थ के बोधक थे, वे कालान्तर में अपने मूल अर्थ को छोड़कर दूसरे अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं। कहीं पर अर्थ में विस्तार होता है, कहीं पर अर्थ में संकोच और कहीं पर अर्थादेश या अर्थ में मौलिक परिवर्तन। इनको अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच और अर्थादेश कहा जाता है। इसका विस्तृत विवेचन अध्याय ६ में किया गया है। 'कुशल' शब्द का मुख्यार्थ था—कुशों को काटने की योग्यता। कुश-छेदन में चतुरता एवं सावधानी की आवश्यकता थी, अत: बाद में कुशल शब्द चतुर का पर्यायवाची हो गया। इसी प्रकार 'प्रवीण' का मुख्य अर्थ था—'प्रकृष्टो वीणायाम्' वीणा वादन में चतुर। परन्तु अर्थ विस्तार से अब चतुर अर्थ का ही बोधक है। 'तैल' का अर्थ था—तिल का सारभाग। परन्तु अर्थ-विस्तार से यह सभी द्रव्यों के सार के लिए प्रयुक्त होने लगा है। सरसों का तेल, गोले का तेल, मूँगफली का तेल। इतना ही नहीं 'मिट्टी का तेल' भी तेल हो गया है। वेद में 'मृग' शब्द पशुमात्र का वाचक था। वह बाद में केवल 'हिरन' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह अर्थसंकोच है। इसी प्रकार पंकज, नीरज, सरोज, उपनयन, संन्यास आदि शब्दों में अर्थसंकोच है। वेद में 'पत्' धातु का उड़ना अर्थ था, अब 'गिरना' अर्थ हो गया है। वेद में 'सह्' धातु का अर्थ 'जीतना' था, अब 'सहन करना' अर्थ हो गया है। वेद में असुर का अर्थ था—असु + र (प्राणशक्तिसंपन्न), अब वह अ + सुर होकर दानव हो गया है। इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन भी भाषा-परिवर्तन की एक दिशा है।

३.५. भाषा में परिवर्तन के कारण

भाषा में परिवर्तन के कारणों पर प्राचीन समय से विचार होता रहा है। इस विषय पर संस्कृत में जिन शब्दशास्त्रियों ने विचार किया है, उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं—आचार्य यास्क, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि, काशिकाकार जयादित्य और वामन, कैयट, भट्टोजि दीक्षित और नागेश भट्ट। वर्तमान समय में भाषा-परिवर्तन विषय पर अनेक विद्वानों ने विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। यूरोप में इस विषय पर सर्वप्रथम विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करने वाले डेनिश विद्वान् जे०एच० ब्रेड्सडॉर्फ (J.H. Bredsdorff) थे। इन्होंने १८२१ में एक पुस्तिका प्रकाशित की थी। उसमें भाषा-परिवर्तन के ७ कारण बताये थे।[1] इस विषय पर प्रो० ई०एच० स्टुर्टवेंट (E.H. Sturtevant : Linguistic Change), ओटो येस्पर्सन (Otto Jespersen : Language, pp. 255-301) और हेनरी एम० होनिग्सवाल्ड (Henry M. Hoenigswald : Language Change and Linguistic Reconstruction) ने आधुनिक पद्धति से बहुत विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

1. Otto Jespersen : *Language*, p. 70.

आभ्यन्तर और बाह्य कारण—भाषा में परिवर्तन या विकास के कारणों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—१. आभ्यन्तर या आन्तरिक, २. बाह्य या बाहरी। आभ्यन्तर कारण वे हैं, जिनका सम्बन्ध भाषा की अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से है या जो प्रयोक्ता और श्रोता की शारीरिक या मानसिक स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं। बाह्य कारण वे हैं, जो बाहर से भाषा को प्रभावित करते हैं। इसमें सामाजिक वातावरण या परिवेश आदि सम्मिलित हैं।

३.५. (क) आभ्यन्तर कारण

आभ्यन्तर कारणों को मौलिक कारण भी कहा जा सकता है। ये कारण भाषा के मूल में रहते हैं, अत: जाने या अनजाने भाषा में परिवर्तन या विकास उपस्थित करते रहते हैं। आभ्यन्तर कारण भाषा में साक्षात् परिवर्तन नहीं करते हैं, अपितु परिवर्तन का कारण प्रस्तुत करते हैं, जिससे धीरे-धीरे वह परिवर्तन समाज की स्वीकृति प्राप्त करके सर्वजनग्राह्य हो जाता है।

(१) अपूर्ण श्रवण

यह पहले उल्लेख किया गया है कि भाषा अर्जित संपत्ति है। भाषा अपने पूर्वजों से, शिक्षकों से, समाज से एवं यान्त्रिक विधियों से सीखी जाती है। बालक अपने माता-पिता आदि से भाषा सीखता है। इस सीखने की क्रिया में तीन बातें होती हैं—१. सुनना, २. स्मरण रखना और ३. पुन: उच्चारण। कितनी ही ध्वनियाँ ऐसी हैं, जो प्रथम बार सुनने पर स्पष्ट सुनाई नहीं पड़ती हैं। मात्रा ह्रस्व है या दीर्घ, व है या ब, श है या स। अनेक बार उच्चारण करने पर एक-एक शब्द का उच्चारण ठीक होता है। यदि सुनने में ही अशुद्धि है तो बालक अशुद्ध ही स्मरण रखेगा और अशुद्ध ही उच्चारण करेगा। जिस प्रकार सुनने में त्रुटि संभव है, उसी प्रकार याद रखने में भी त्रुटि हो सकती है। जैसा शब्द का संस्कार बुद्धि पर पड़ेगा, उसी प्रकार उच्चारण भी शुद्ध या अशुद्ध होगा। अतएव व-ब, स-श, इ-ई, उ-ऊ आदि की सैकड़ों अशुद्धियाँ इसी प्रकार भाषा में प्रचलित हो गई हैं।

(२) अपूर्ण अनुकरण

अपूर्ण, अधूरा या अस्पष्ट अनुकरण भाषा में परिवर्तन का प्रमुख कारण है। यदि अनुकरण सर्वथा पूर्ण है तो शब्दों का उच्चारण ठीक उसी प्रकार होगा। परन्तु देखा जाता है कि अनुकरण अधिकांशत: अपूर्ण ही होता है। बाल्यावस्था में बालक माता-पिता आदि के द्वारा उच्चरित शब्दों को सुनकर अनुकरण करके बोलता है। उसका उच्चारण ठीक न होने पर उसे बार-बार बुलवाकर ठीक कराया जाता है। ध्वनि का अनुकरण सुनकर तथा उच्चारण-अवयवों के संचालन को देखकर किया जाता है। ध्वनि, शब्द या वाक्य को सुनकर उसे स्मरण किया जाता है और तदनुसार ही उच्चारण का प्रयत्न एवं अभ्यास किया जाता है। इस प्रक्रिया में दो बातें सामान्यतया घटित होती हैं—१. अनुकरण में अनुकर्ता